आलोचनात्मक अध्ययन—
(प्रश्नोत्तर रूप में)

हिन्दी साहित्य का इतिहास

- वीर गाथा काल
- भक्ति काल
- रीति काल
- आधुनिक काल

प्रो० [illegible] सरोज एम० ए०

आलोचनात्मक अध्ययन—

हिन्दी साहित्य का इतिहास

(प्रश्नोत्तर रूप में)

लेखक

प्रो० भारतभूषण 'सरोज' एम० ए०, साहित्यरत्न

(Shridhar Gold Medalist)

अध्यक्ष—हिन्दी-विभाग, रामजस कालेज, दिल्ली

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार

पटना-४ : : दिल्ली-७

रिवर्द्धित एवं
त संस्करण

१९६५

मूल्य ३.५०

प्रकाशक—
रामकृष्ण शर्मा
अध्यक्ष—हिन्दी साहित्य संसार
बंगलो रोड, दिल्ली-७

ब्रांच—
खजान्ची रोड, पटना-४

मूल्य
दो रुपये पचास पैसे (२.५०)

सप्तम संस्करण की भूमिका

मुझे प्रसन्नता है कि विद्यार्थी-समाज ने इस पुस्तक को भली प्र
अपनाया है। सप्तम संस्करण का प्रकाशित होना ही इसका पर्याप्त प्रमाण है
इस संस्करण में मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों को दूर कर दिया गया है। थो
बहुत घटा-बढ़ा भी दिया गया है। कुछ नये प्रश्न भी जोड़ दिये गये हैं। इसके
यह संस्करण और भी अधिक छात्रोपयोगी हो गया है।

प्रिय निर्मल शर्मा और कु० प्रेमलता ने इस संस्करण के तैयार करने में
जो सहायता दी है उसके लिए मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ।

२६-१-६५

—भारतभूषण 'सरोज'

प्रथम संस्करण की भूमिका

हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास अब तक लिखे जा चुके हैं। आचार्य
रामचन्द्र शुक्ल ने सर्वप्रथम ऐसा इतिहास प्रस्तुत किया था कि जिसमें सर्वाधिक
प्रामाणिकता थी। शुक्ल जी के अनन्तर जैसे-जैसे शोध होती गई, हिंदी-साहित्य
के विषय में नवीन बातें सामने आती गईं। इस क्रम के आधार पर अब
नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा अधिकारी विद्वानों ने एक विस्तृत इतिहास
[illegible] जा रहा है जिसके कई भाग अब तक प्रकाशित भी हो चुके हैं।

इतिहास की यह पुस्तक विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर लिखी गई है।
[illegible]क लिखते समय प्रायः शुक्ल जी, डा० रामकुमार वर्मा तथा हजारी-
[illegible] द्विवेदी लिखित इतिहासों को आधार बनाया गया है जिसके लिए मैं इन
[illegible]ों का आभारी हूँ। इनके अतिरिक्त और भी अनेक ग्रंथों से सहायता ली
[illegible]। ज्ञात या अज्ञात रूप से जिन पुस्तकों अथवा पत्र-पत्रिकाओं से इसके
[illegible] में सहायता प्राप्त हुई है उन सबके प्रति मैं आभारी हूँ।

[illegible]के दस प्रश्न उदीयमान कवि और लेखक श्री [illegible] पाठक '[illegible]'
साहित्यरत्न द्वारा लिखे गये हैं। पाण्डुलिपि को तैयार करने में

कु० प्रेमलता और कु० अरुणा (बी० ए० ऑनर्स की छात्राएँ) ने जो सहयोग दिया है उसके लिए मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक हिन्दी-साहित्य के छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। हिन्दी-साहित्य-संसार के संचालक भाई रामकृष्ण शर्मा ने इसे शुद्ध रूप में छपवाने और सुन्दर रूप में प्रकाशित करने का भरसक प्रयत्न किया है फिर भी कुछ अशुद्धियों का रह जाना सम्भव है। आगामी संस्करण में उन्हें दूर किया जायगा। पुस्तक में जो कमियाँ हों उनकी ओर ध्यान दिलाने वाले पाठकों के सुझावों का मैं सदा स्वागत करूँगा।

बी ४ए/४ राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-६

—भारतभूषण 'सरोज'

प्रश्न-सूची

३—रीतिकाल

४—आधुनिक काल

प्रश्न १. हिन्दी भाषा के विकास-क्रम को स्पष्ट कीजिए।

समय की गति के साथ मानव-मन के विचार और उनको अभिव्यक्त करने के साधन अर्थात् भाषा भी विकासोन्मुख रहती है। आज सम्पूर्ण राष्ट्र की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। परन्तु आज जो हिन्दी-भाषा इतनी प्राञ्जल, सुगठित, सुन्दर तथा सुगम प्रतीत होती है, उसका प्राचीन रूप आज से बिल्कुल भिन्न था। परिवर्तन के चक्र के साथ चलते-चलते उसका नव-विकसित रूप दिखाई देता है। इस प्रकार भाषाएँ परिवर्तित होकर विकासोन्मुख होती जाती हैं। हिन्दी भाषा के विकास का इतिहास साधारणतया तीन कालों में विभक्त किया जाता है—

(क) प्राचीन काल—(१५०० ई० तक) जब अपभ्रंश तथा प्राकृतों का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पूर्णतः स्थापित था तथा हिन्दी की बोलियों के निश्चित स्पष्ट रूप विकसित नहीं हो पाये थे।

(ख) मध्यकाल—(१५०० से १८००ई० तक) जब हिन्दी से अपभ्रंशों का प्रभाव बिल्कुल हट गया था और हिन्दी की बोलियाँ, विशेषतया खड़ी बोली, ब्रज और अवधी अपने पैरों पर स्वतन्त्रतापूर्वक खड़ी हो गई थीं।

(ग) आधुनिक काल— १८०० ई० के बाद। हिन्दी की बोलियों के मध्य-काल के रूपों में परिवर्तन आरम्भ हो गया है तथा साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से खड़ी बोली ने हिन्दी की अन्य बोलियों को विकासोन्मुख चक्र से पीछे छोड़ कर राष्ट्र में स्वराज्य स्थापित किया है।

जिस समय से हिन्दी-भाषा का इतिहास आरम्भ होता है, उस समय हिन्दी प्रदेश तीन भागों में विभक्त था और इन्हीं तीन केन्द्रों ने हिन्दी-भाषा सम्बन्धी सम्पत्ति देश को प्रदान की है। पश्चिम में चौहान वंश की राजधानी दिल्ली थी। पृथ्वीराज के समय में अजमेर का राज्य भी इसमें सम्मिलित हो गया था। दिल्ली राज्य की सीमाएं पश्चिम में पंजाब के मुसलमानी राज्य से मिली हुई थीं। दक्षिण-पश्चिम में राजस्थान के राजपूत राज्यों से इसकी घनिष्ठता थी,

किन्तु पूर्व की सीमा पर सदा घरेलू युद्ध होते रहते थे। नरपति नाल्ह तथा चन्द कवि का सम्बन्ध क्रमशः अजमेर और दिल्ली से था। चौहान राज्य के पूर्व में राठौर वंश की राजधानी कन्नौज थी और इस राज्य की सीमा अयोध्या तथा काशी तक चली गई थी। कन्नौज के अंतिम सम्राट जयचन्द का दरबार साहित्य-चर्चा का मुख्य केन्द्र था, किन्तु यहाँ 'भाषा' की अपेक्षा 'संस्कृत' और 'प्राकृत' का विशेष महत्व था। संस्कृत के अंतिम महाकाव्य 'नैषधीय' के लेखक श्रीहर्ष जयचन्द के दरबार के राजकवि थे। कन्नौज के दरबार में भाषा-साहित्य की चर्चा भी रही होगी, किन्तु प्राचीन कन्नौज के नष्ट हो जाने के कारण इस केन्द्र की सामग्री अब बिल्कुल उपलब्ध नहीं है।

११९१ ई० तक मध्यदेश के इन तीनों राज्यों का अस्तित्व था, किन्तु इसके पश्चात् दस-बारह वर्षों में ही ये तीनों राज्य नष्ट हो गए। ११९१ ई० में मुहम्मद गोरी ने पानीपत के निकट पृथ्वीराज को पराजित कर दिल्ली पर अपना आधिपत्य जमा लिया। आगामी वर्ष में इटावा के निकट जयचन्द की हार हुई और कन्नौज से लेकर काशी तक का प्रदेश विदेशियों के अधीन हो गया। महोबा-राज्य पर भी मुसलमानों ने शीघ्र ही अधिकार कर लिया। इस प्रकार समस्त हिन्दी प्रदेश पर विदेशियों की विजय-पताका फहराने लगी। प्रगतिशील और विकासोन्मुख होती हुई नवीन भाषा के लिए यह एक ऐसा बन्धन था, जिसके प्रभाव से हिन्दी अब तक भी मुक्त न हो सकी। हिन्दी भाषा के सम्पूर्ण प्राचीन काल में मध्य-देश तथा शेष उत्तरी भारत में मुसलमानों का राज्य था। इन सम्राटों की मातृ-भाषा तुर्की थी और दरबार की भाषा फारसी थी। अतः तीन सौ वर्षों से अधिक देश की बागडोर विदेशियों के हाथों में रहने से हिन्दी भाषा के विकास को अवरुद्ध होना पड़ा। इस काल में दिल्ली में केवल अमीर खुसरो ने मनोरंजन के लिए भाषा में कुछ सरस मुकरियों और पहेलियों की रचना की। इसी काल के अन्तिम दिनों में धार्मिक आन्दोलनों ने तीव्रता पकड़ी और इसी कारण भाषा-सूत्र में कुछ साहित्य-पुष्प पिरोए गए। आन्दोलनों के प्रमुख कार्यकर्त्ता गोरखनाथ, रामानन्द तथा उनके प्रमुख शिष्य कबीर के सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी भाषा के इस प्राचीन काल में साहित्यिक सामग्री का प्रायः अभाव ही रहा है। विदेशी शासन होने के कारण इस काल में हिन्दी भाषा में लिखे शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों आदि के अन्वेषण का प्रयास विशेष रूप से नहीं किया गया, नहीं तो कुछ सामग्री अवश्य ही उपलब्ध होती। हिन्दी के सबसे प्राचीन नमूने पृथ्वीराज तथा समरसिंह के दरबारों से सम्बन्ध रखने वाले पत्रों के रूप में समझे जाते थे, जिनको नागरी-प्रचारिणी-सभा ने प्रकाशित किया था, किन्तु ये अप्रामाणिक सिद्ध हुए।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल तथा श्री राहुल सांकृत्यायन ने नाथपन्थ तथा वज्रयानी सिद्ध-साहित्य को प्रदर्शित कर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। डाक्टर बड़थ्वाल ने हिन्दी कविता में 'योग-प्रवाह' तथा 'गोरखबानी' और राहुल सांकृत्यायन ने 'पुरातत्व निबन्धावली' और 'हिन्दी काव्य-धारा' द्वारा तत्कालीन अपभ्रंश-काव्य का परिचय दिया है। इन कवियों का समय ७०० ई० से १२०० ई० तक माना जाता है किन्तु इनकी रचनाओं का वर्तमान रूप भी उसी समय का है। यह संदिग्ध है। प्रारम्भिक सिद्धों की कृतियों की भाषा अपभ्रंश है। इस साहित्यिक धारा का प्रथम-परिचय हरप्रसाद शास्त्री के 'बौद्धगान ओ दोहा' के प्रकाशन द्वारा हुआ था।

पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में 'पुरानी-हिन्दी' शीर्षक लेख में जो नमूने दिये हैं वे प्रायः गंगा की घाटी से बाहर के प्रदेशों में बने ग्रन्थों के हैं। अतः इनमें हिन्दी के प्राचीन रूप कम पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त इन उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश की छाप इतनी स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों को इस काल के अपभ्रंश साहित्य के अन्तर्गत रखना अधिक उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार के प्रामाणिक ग्रन्थों में हेमचन्द्र रचित 'कुमारपालचरित' तथा सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन सबसे प्राचीन हैं। जैन आचार्य मेरुतुंग ने 'प्रबंध-चिन्तामणि' नाम का संस्कृत ग्रन्थ १३०४ ई० में बनाया। इसमें कुछ प्राचीन पद्य उद्धृत मिलते हैं, जो अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की अवस्था के से लगते हैं। 'शार्ङ्गधर-पद्धति' शार्ङ्गधर कवि द्वारा संगृहीत सुभाषित ग्रन्थ है, जिसमें शाबर-मंत्र और चित्र-काव्य में कुछ भाषा के शब्द आये हैं।

इस काल की भाषा के नमूनों का तीसरा समूह चारण, धार्मिक तथा लौकिक-काव्य-ग्रन्थों में मिलता है। इस काल के मुख्य-मुख्य लेखकों तथा उनके प्रकाशित ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' जिन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर प्रकाशित किया गया है वे १६१२ और १६०२ ई० की लिखी हैं। मूलग्रन्थ के अजमेर में लिखे जाने के कारण इसकी भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है। कहीं-कहीं कुछ खड़ी बोली के रूप भी पाये जाते हैं।

चन्दवरदाई का कविता काल ११६८ से ११६२ ई० तक माना जाता है। वर्तमान 'पृथ्वीराज रासो' में कितना अंश चन्द्र द्वारा रचित है, इस विषय में विद्वानों का मतभेद है। वर्तमान रासो में ब्रजभाषा के साथ अपभ्रंश, खड़ी बोली तथा राजस्थानी का मिश्रण दिखाई देता है।

इसके पश्चात् खुसरो का समय १२२५-१३२५ ई० माना जाता है। इनके सभी प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना फारसी में हुई है। इनकी हिन्दी कविता के नमूने का आधार एकमात्र जनश्रुति है। आधुनिक काल में लेखबद्ध किये जाने के कारण खुसरो की हिन्दी आधुनिक खड़ी बोली हो गई है।

गोरखपन्थ के संस्थापक गोरखनाथ का समय आधुनिक खोजों के अनुसार १०वीं शताब्दी है। इनके नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गोरखबानी' नाम के संग्रह में प्रकाशित हुए हैं।

विद्यापति का भाषा-पद-समूह कुछ ही समय पूर्व संगृहीत किया गया है। इन पदों में मिथिला में संग्रह किए गए पदों की भाषा मैथिली और बंगाल में संगृहीत पदों की भाषा बंगला है। विद्यापति के 'कीर्तिलता' नामक ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश है। इनके अन्य ग्रन्थ प्रायः संस्कृत में हैं।

कबीरदास तथा अन्य सन्तों की वाणी बहुत समय तक मौखिक रूप से चलती रही, अतः उनकी भाषा में नवीनता का प्रवेश होना स्वाभाविक है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से कबीर के ग्रंथों का जो संग्रह छपा है उसमें पंजाबीपन की अधिकता है।

परन्तु भाषाशास्त्र की दृष्टि से इन ग्रंथों की भाषा के नमूने अत्यन्त संदिग्ध

है। इनमें से किसी भी ग्रन्थ की इस काल की लिखी प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं है। बहुत दिनों तक मौखिक रूप में रहने के बाद लिखे जाने पर भाषा में परिवर्तन का हो जाना स्वाभाविक है, अतः हिन्दी भाषा के इतिहास की दृष्टि से इन ग्रंथों के नमूने मान्य नहीं समझे जा सकते।

दक्षिण भारत में विकसित हिन्दवी अथवा दक्खिनी उर्दू-साहित्य का आरम्भ १३२६ ई० में मुहम्मद तुगलक के दक्षिण-आक्रमण के पश्चात् हुआ। हिन्दवी के प्रारम्भिक कवि मुसलमान सूफी फकीर थे, जिन्होंने अपने धार्मिक विचारों के प्रचार की दृष्टि से ये रचनाएँ लिखीं। यह साहित्य अभी देवनागरी लिपि में प्रकाशित नहीं हुआ है, यद्यपि इसकी भाषा पुरानी खड़ी बोली है। हिन्दवी में प्रारम्भिक साहित्य की रचनाएँ बीजापुर तथा गोलकुण्डा के शासकों द्वारा तथा उनके संरक्षण में १७वीं शताब्दी में लिखी गईं।

तत्पश्चात् हिन्दी भाषा के विकास का मध्यकाल १५०० से १८०० ई० तक माना जाता है। १५०० ई० के पश्चात् देश की परिस्थिति ने एक बार फिर पलटा खाया। १५२६ के लगभग शासन की बागडोर तुर्की पठानों के हाथ से निकलकर मुगलों के हाथ में चली गई। बीच में कुछ काल तक सूरवंश के राजाओं ने भी राज किया। इस परिवर्तनकाल में राजपूतों ने गंगा की घाटी पर अधिकार जमाना चाहा परन्तु असफल रहे। इस देश में शान्ति का साम्राज्य रहने तथा राज्य की ओर से कम उपेक्षा होने के कारण इस काल में साहित्य-चर्चा विशेष रूप से हुई। वास्तव में यह काल हिन्दी का स्वर्णयुग कहा जाता है।

अवधी और ब्रज के दो मुख्य साहित्यिक रूपों का विकास १६वीं शताब्दी में ही आरम्भ हुआ। इन दोनों में ब्रजभाषा तो समस्त हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई, किन्तु अवधी में लिखे गए 'रामचरितमानस' का हिन्दी जनता में सबसे अधिक प्रचार होने पर भी साहित्य के क्षेत्र में अवधी भाषा का प्रचार न हो सका। मध्यकाल में अवधी में लिखे गए दो ही ग्रंथ—जायसी कृत 'पद्मावत' जो शेरशाह सूरी के शासनकाल में लिखा गया था और तुलसीकृत 'रामचरितमानस', जो अकबर के शासनकाल में लिखा गया था—सर्व प्रसिद्ध हैं। १५वीं सदी के पश्चात् अवधी में विशेष ग्रंथ-रचना नहीं हुई।

वल्लभाचार्य के प्रोत्साहन से १६वीं सदी पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में साहित्य-रचना प्रारम्भ हुई। हिन्दी-साहित्य की इस शाखा का केन्द्र पश्चिम मध्यदेश था। अतः ब्रजभाषा-साहित्य को धर्म के साथ-साथ विदेशी तथा देशी राज्यों की संरक्षिता भी प्राप्त हो सकी। तुलसीदास ने भी 'विनय-पत्रिका' तथा 'गीतावली' आदि कुछ काव्यों में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। अष्टछाप सम्प्रदाय के दूसरे महाकवि नन्ददास ने भी साहित्यिक ब्रजभाषा में अपने ग्रंथों की रचना की है। १७वीं शताब्दी में प्रायः समस्त हिन्दी साहित्य ब्रजभाषा में लिखा गया है और इस प्रकार इस भाषा का रूप दिन-दिन परिष्कृत, साहित्यिक और सांस्कृतिक होता चला गया है। बुन्देलखण्ड तथा राजस्थान के देशी राज्यों के सम्पर्क में आने के कारण इस काल के बहुत से कवियों की भाषा में बुन्देली तथा राजस्थानी बोलियों का प्रभाव आ गया है। उदाहरणार्थ—केशवदास की भाषा में बुन्देली प्रयोग बहुत मिलते हैं।

प्राचीन तथा मध्यकाल के ग्रंथों में यत्र-तत्र खड़ी बोली के रूप भी बिखरे पड़े हैं। चन्द, कबीर, भूषण आदि में खड़ी बोली का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ। अतः इनसे यह तो स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली का अस्तित्व प्रारम्भ से ही था, यद्यपि इस बोली का प्रयोग हिन्दी कवि और लेखक साहित्य में विशेष रूप से नहीं करते थे। खड़ी बोली उर्दू के प्रथम प्रसिद्ध कवि हैदराबाद के 'वली' माने जाते हैं। इनका कविता-काल १८वीं सदी के प्रारम्भ से होता है। १८वीं और १९ वीं सदी में बहुत से मुसलमान कवियों ने काव्य-रचना करके खड़ी बोली उर्दू को परिमार्जित साहित्यिक रूप दिया; जिनमें गालिब, मीर व दाग उल्लेखनीय हैं। इनके पश्चात् हिन्दी भाषा का आधुनिक काल आरम्भ होता है। इस काल का प्रारम्भिक विकास भी संघर्ष और क्रान्ति में हुआ। १८वीं सदी के पश्चात् तीन बाह्य शक्तियों ने हिन्दी प्रदेश पर अधिकार करने की प्रतिद्वन्द्विता दिखाई; मराठा, अफगान और अंग्रेज। १७६१ ई० में पानीपत के तीसरे युद्ध में अफगानों के हाथ से मराठों को ऐसा भारी धक्का पहुँचा कि वे फिर शक्ति-संचय न कर सके। इसके तीन वर्ष पश्चात् हिन्दी प्रदेश की

पूर्वी सीमा पर अंग्रेजों तथा अवध और दिल्ली के मुसलमान शासकों के बीच युद्ध हुआ, जिसके फलस्वरूप अंग्रेजों के लिए गंगा की घाटी का पश्चिमी भाग खुल गया। कालान्तर में आगरा व अवध भी अंग्रेजों के अधिकार में आ गए। इन राजनीतिक परिवर्तनों के कारण ही १६वीं सदी के आरम्भ से ही मध्यदेश की भाषा हिन्दी पर प्रभाव पड़ा। १८वीं सदी में ब्रजभाषा की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और नया बाना उर्दू मुसलमानों के बीच जोर पकड़ने लगी थी। अतः १६वीं सदी के प्रारम्भ में अंग्रेजों ने हिन्दुओं के लिए खड़ी बोली गद्य के सम्बन्ध में कुछ प्रयोग कराए, जिनके फलस्वरूप फोर्ट-विलियम कालेज में लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान की रचना की। 'प्रेमसागर' में ब्रजभाषा का अधिकांश रूप में प्रयोग हुआ, क्योंकि प्रारम्भ में उसका प्रभाव स्वाभाविक ही था। खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ है और इसका श्रेय साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा धर्म के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द को है। इस प्रकार मुसलमानों के साथ-साथ खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार बढ़ा। १०वीं सदी तक तो पद्य ब्रजभाषा में होता रहा किन्तु २०वीं सदी के आते-आते खड़ी बोली हिन्दी सम्पूर्ण मध्यदेश की गद्य-पद्य दोनों की एकमात्र साहित्यिक भाषा हो गई। खड़ी बोली पद्य के प्रारम्भ के कवियों की भाषा में भी, —नूराम आदि प्रथम पद्य लेखकों के समान ब्रजभाषा की झलक स्पष्ट पाई जाती है। अधिकर पाठक ए. कविता की प्राञ्जलता, सरलता और मधुरता का कारण भी ब्रजभाषा का व्यवहार ही है। किन्तु अब तो खड़ी बोली कविता की भाषा से भी ब्रजभाषा की छाप मिट गई है। साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली हिन्दी ने व्यापकता प्राप्त कर ली है। गद्य व पद्य दोनों की रचना खड़ी बोली के सौष्ठव, परिमार्जित और परिष्कृत तथा प्राञ्जल रूप में सुसज्जित की जाती है। इस भाषा का विकास दिन-प्रति-दिन होता जा रहा है।

प्रश्न २. हिन्दी-साहित्य का उपयुक्त काल-विभाजन कीजिए।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास भारतीय जनता के एक महान [illegible] सहस्राब्दि वर्षों की चिन्तनधारा का इतिहास है। साहित्य जीवन

२

और जीवन संस्कृति और परिस्थितियों की सूक्ष्म प्रतिक्रिया। अतः जीवन-धारा को मोड़नेवाली सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर भी निश्चित रूप से पड़ता है। शुक्ल जी के शब्दों में—

"साहित्य जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिविम्ब होता है।...आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।"

अतः स्पष्ट है कि इतिहास के परिपार्श्व में ही किसी साहित्य-विशेष का अध्ययन, उनके उचित आकलन में सहायक हो सकता है। हिन्दी के इतिहास के अध्ययन की सुविधा के लिए वर्ण्य-विषय-पद्धति या प्रवृत्ति-प्रधानता आदि की दृष्टि से साहित्य का वर्गीकरण किया है जिसमें मिश्रबन्धु, डा० श्याम सुन्दरदास, आचार्य द्विवेदी, आचार्य शुक्ल और डा० रामकुमार वर्मा प्रमुख हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के सर्वसम्मत चारों कालों से आदि-काल या वीरगाथा काल सदैव से विवादग्रस्त विषय रहा है। साधारणतः सन् ईसवी की १०वीं शताब्दी तक के काल को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल कहा जाता है। सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल ने इस काल की रचनाओं में वीर रस की प्रधानता देखकर इसे वीरगाथा काल की संज्ञा से अभिहित किया और संवत् १०५० से सं० १३७५ (सन् १३१८ ई०) तक इसकी सीमा-रेखा निश्चित की। परन्तु हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि कहाँ अप-भ्रंश-रचनाएँ समाप्त हुईं और कहाँ पहली बार हिन्दी का प्रयोग हुआ। इस कारण आदिकाल की सीमा को कोई गोरखनाथ से पहले तक खींचता है तो उस अपभ्रंश की महत्वपूर्ण रचनाओं का प्रश्न उठता है जो १४वीं-१५वीं-शताब्दी तक बनती रहीं। इन्हें इस काल की फुटकर रचना भी नहीं कहा जा सकता। अतः समय की अवधि, रचनाओं की प्रामाणिकता, साहित्य की प्रवृत्ति किसी भी दृष्टि से आदिकाल की अवस्था निश्चित नहीं है। वह सर्वथा विवादा-स्पद है। इसी कारण यदि मिश्र-बन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य के 'आदि-प्रकरण' का आरम्भ सम्वत् ७०० से किया तो डा० रामकुमार वर्मा ने सं० ७५० से

लेकर १००० तक की सामग्री इतिहास में सम्मिलित की है। काशीप्रसाद जायसवाल ने हिन्दी की उत्पत्ति १० वीं शती बताई है।

आदिकाल व वीरगाथाकाल

सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ९०० वर्षों के हिन्दी-साहित्य के काल को ४ कालों में विभक्त किया है और उन्हें वीरगाथा-काल, भक्ति-काल, रीति-काल और आधुनिक काल के नामों से अभिहित किया है।

१. आदिकाल

वीरगाथा-काल—सं० १०५० से सं० १३७५ तक

२. पूर्वमध्य काल

भक्ति-काल—सं० १३७५ से १७०० तक

३. उत्तरमध्य काल

रीति-काल—सं० १७०० से सं० १९००

४. आधुनिक काल

गद्य-काल—सं० १९०० से अब तक

शुक्ल जी के काल-विभाजन का आधार—इन विभिन्न कालों का नामकरण शुक्ल जी ने प्रवृत्तियों की मुख्यता के आधार पर किया है। जिस समय जिन रचनाओं की प्रचुरता रही उन्हीं के विषयों के आधार पर नाम रखा गया है। इस सम्बन्ध में इतिहास के 'वक्तव्य' में उन्होंने दो बातों का उल्लेख किया है—१. "विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता," २. "ग्रन्थों की प्रसिद्धि"। जिस काल-खण्ड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूपानुसार किया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस काल में अन्य प्रकार की रचनाएँ नहीं होती थीं, वरन् रचनाओं की प्रवृत्ति के अनुसार ही इसका नामकरण और विभाजन किया गया है। जैसे यदि भक्ति-काल या रीति-काल को लें, तो उसमें वीर रसात्मक अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होंगे, जिनमें वीर राजाओं की प्रशस्तियाँ उसी रूप में मिलेंगी जिस प्रकार वीरगाथा काल में हुआ करती थीं। दूसरा आधार है, 'ग्रन्थों की प्रसिद्धि।' जिस काल के भीतर

जिस ढंग के बहुत अधिक ग्रन्थ चले आते हैं उस ढंग की रचना उस काल के लक्ष्य के अन्तर्गत मानी जायेगी। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है।

शुक्ल जी के अनुसार इस काल में दो प्रकार की रचनायें मिलती हैं—अपभ्रंश की और देश भाषा की। सिद्धों-जैनों को उन्होंने अपभ्रंश काल में रखा है और उनके काव्य को साम्प्रदायिक कह कर साहित्य में स्थान नहीं दिया गया है। इतिहास में उनका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिए किया गया है कि अपभ्रंश का व्यवहार कब से हो रहा था। उन्होंने अपभ्रंश भाषा की केवल चार पुस्तकों को साहित्यिक माना है—१. विजयपाल रासो, २. हम्मीर रासो, ३. कीर्तिलता और ४. कीर्तिपताका। देश भाषा काव्य की आठ साहित्यिक पुस्तकें हैं—१. खुमान रासो, २. बीसलदेव रासो, ३. पृथ्वीराज रासो, ४. जयचन्द प्रकाश, ५. जयमयंकजसचंद्रिका, ६. परमाल रासो (आल्हा का मूल-रूप), ७. खुसरो की पहेलियाँ और ८. विद्यापति की पदावली। शुक्ल जी ने इन्हीं १२ पुस्तकों के आधार पर इस काल (आदि-काल) का नाम वीर-गाथा-काल रखा है, क्योंकि इनमें तीन पुस्तकों को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीर-गाथात्मक हैं। उनका कथन है कि—"इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से आदि-काल का लक्षण निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से तीन—विद्यापति की पदावली, खुसरो की पहेलियाँ और बीसलदेव रासो को छोड़ कर शेष सब ग्रंथ वीर-गाथात्मक हैं। अतः आदि-काल का नाम वीरगाथा-काल ही रखा जा सकता है।" इसके अतिरिक्त इस काल की युद्ध-प्रधान राजनीतिक परिस्थितियाँ भी इस नाम को सार्थक करती हैं।

डा० श्यामसुन्दरदास—डा० श्यामसुन्दरदास शुक्ल जी के काल-निर्धारण सम्बन्धी उपर्युक्त आधार से पूर्णतः सहमत हैं। दोनों विद्वानों के मत में अन्तर केवल इतना ही है कि शुक्ल जी ने सं० १०५० से सं० १३७५ तक को वीर-गाथा-काल कहा है जहाँ डा० श्यामसुन्दरदास ने इस काल का परिधि-विस्तार १०५० से १४०० तक किया है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—परन्तु डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी

साहित्य का आदि-काल' में शुक्ल जी के वर्गीकरण पर आपत्ति प्रकट करते हुए कहा है, "इधर हाल की खोजों से पता चला है कि जिन 12 पुस्तकों के आधार पर शुक्ल जी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया है उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र ही हैं और कई के सम्बन्ध में यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि उनका मूलरूप क्या था।" अतः वे इस काल को 'वीर-गाथा-काल' न मानकर 'आदि-काल' की संज्ञा देते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है, 'इस काल में वीररस को सचमुच ही बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त है। परन्तु इस काल में सिद्ध-साहित्य और जैन-साहित्य का प्रणयन प्रचुर मात्रा में हुआ है। इसीलिए इसे केवल वीरगाथाकाल नहीं माना जा सकता।' अतः सिद्ध और जैन-साहित्य को भी महत्व प्रदान करते हुए द्विवेदी जी ने 'आदि-प्रकरण' का आरम्भ सं० 1008 से 1375 तक माना है। उनका मत है कि जैन-धर्म भावना से प्रेरित कतिपय रचनाएँ इतनी सरस हैं कि वे हम्मीर रासो और विजयपाल रासो के समान इतिहास के लिए स्वीकार हो सकती हैं। इसलिए स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल जैन कवियों की कृतियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

परन्तु शुक्ल जी ने 'आदि-काल' की अपेक्षा 'वीरगाथा काल' नाम अधिक सार्थक समझा है। क्योंकि 'आदि-काल' मात्र कह देने से उस काल विशेष की प्रवृत्ति का कोई ज्ञान नहीं होता। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य शुक्ल ने 11वीं सदी के मध्य से ही हिन्दी साहित्य का आरम्भ माना है। इसमें अपभ्रंश ग्रन्थों का उल्लेख कर केवल देश भाषा के ग्रन्थ के आधार पर प्रमुख प्रवृत्ति निरूपण करते हुए इसका नाम वीर-गाथा काल रखा है।

डा० रामकुमार वर्मा—कुछ विद्वान हिन्दी साहित्य की परम्परा को खींच कर आठवीं शताब्दी तक ले जाते हैं। इसका आधार पुष्य नामक कवि का उल्लेख है जो सं० 750 में साहित्य सृजन कर रहा था। डा० रामकुमार वर्मा ने इस आधार पर हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक काल को सं० 750 से 1375 तक मानकर इसके दो खंड किये हैं—'सन्धिकाल' और 'चारणकाल'। उन्होंने सं० 750 से 1000 तक की बौद्ध, जैन और सिद्धों की [illegible] को [illegible]

में रखा है और सं० १००० से १३७५ तक के काल को हिन्दी के च
काल के नाम से अभिहित किया है। संधिकाल के मूग में तत्कालीन ध
एवं सांस्कृतिक स्थित का सम्मिश्रण है। यह युग दो धर्मों—वैदिक और
धर्म तथा दो भाषाओं—अपभ्रंश और हिन्द' का संधियुग था। अतः इ
नामकरण यथार्थ और पूर्ण है। परन्तु उनका 'चारण काल' नाम दोषपूर्ण प्रत
होता है, क्योंकि इस काल की रचनाओं के भीतर एक भी चारण कृति
उल्लेख नहीं है और सं० १७१५ तक की रचनाओं को भी इस काल में सम्मि
लित कर लिया गया है, जब स्वयं वर्मा जी इस काल की सीमा सं० १३७
तक स्वीकार करते हैं।

राहुल सांकृत्यायन—राहुल सांकृत्यायन ने भी इस काल का समय तो
यही माना है परन्तु नाम 'सिद्ध सामन्त युग' रखा है। 'सिद्ध' शब्द से तत्का-
लीन धार्मिक साहित्य की प्रधानता व्यंजित है और 'सामन्त' शब्द से राज-
नीतिक स्थिति की ओर संकेत है। वस्तुतः डा० वर्मा का 'सन्धिकाल' और
'चारणकाल' राहुल जी के 'सिद्धकाल' और 'सामन्तकाल' का ही दूसरा नाम
। आचार्य शुक्ल इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका तर्क है कि—
आदि काल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्षों के भीतर तो रचना
की विशेष प्रवृत्ति का निश्चय ही नहीं होता है—धर्म, नीति, वीर, शृंगार सब
प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस लोक प्रवृत्ति के उपरान्त जब से
मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है, तब से हम हिन्दी साहित्य की
प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं, जिसे लक्ष्य करके हमने इस काल
को वीरगाथा काल कहा है।"

भक्तिकाल

पूर्वमध्य काल को शुक्ल जी ने भक्तिकाल कहा है। इस काल का परिधि-
विस्तार जहाँ उन्होंने सं० १३७५ से १७०० तक माना है वहाँ डा० श्यामसुन्दर-
दास का यह काल सं० १४०० से आरम्भ होता है और मिश्रबन्धुओं का प्रौढ़
माध्यमिक काल संवत् १५६१ से। इस काल के वर्गीकरण का आधार अपने इतिहास
'वक्तव्य' में स्पष्ट करते हुए उनका कहना है, "एक ही काल और एक ही

कोटि की रचना के भीतर जहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की परम्पराएँ चली हुई पाई गई हैं वहाँ अलग शाखायें करके सामग्री का विभाग किया गया है। अतः 'भक्तिकाल' को उन्होंने 'निर्गुणधारा' और 'सगुणधारा' में बाँटकर प्रत्येक के दो भाग किये हैं—पहले में ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेममार्गी शाखा तथा दूसरे में रामभक्ति और कृष्णभक्ति शाखा।

प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने इस वर्गीकरण को स्वीकार किया है परन्तु जहाँ तक इस काल के नामकरण का सम्बंध है कतिपय विद्वानों की धारणा है कि निर्गुणधारा को भक्तिकाल के अन्तर्गत नहीं रखना चाहिए, अथवा इस काल को भक्ति काल न कहकर 'धार्मिक काल' कहना चाहिए, क्योंकि भक्ति तो केवल सगुण और साकार की हो सकती है—निराकार की नहीं। निर्गुण ब्रह्म भक्ति या प्रेम का विषय नहीं हो सकता, अतः इस संपूर्ण काल को 'धार्मिक-काल' कहना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है इस तर्क को तो स्वयं शुक्ल जी ने स्वीकार किया है—"भारतीय भक्ति मार्ग साकार और सगुण रूप को लेकर चला था, निर्गुण और निराकार ब्रह्म भक्ति या प्रेम का विषय नहीं माना जाता।"

इसके अतिरिक्त जहाँ तक भक्ति-काव्य की निर्गुण और सगुणधारा की राम और कृष्णभक्ति शाखा का सम्बंध है—इस वर्गीकरण में किसी का मतभेद नहीं है,परन्तु जहाँ शुक्ल जी ने जायसी, कुतुबन आदि कवियों को भक्त-कवि माना है, वहाँ कतिपय विद्वानों ने आपत्ति की है कि सूफियों की यह निर्गुण-धारा ब्रह्मभक्ति-भावना का अवलम्बन नहीं, प्रेम की पीर का अवलम्बन है और सूर, तुलसी, कबीर की भक्ति तथा सूफियों की इश्कमिजाजी और प्रेम की पीर एक ही वस्तु नहीं है। स्वयं शुक्ल जी ने भक्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है"—(चिन्तामणि भाग १) जहाँ आश्रय में पूज्य बुद्धि का अभाव है, जहाँ दैन्य की प्रतिष्ठा नहीं हो रही है, वहाँ भक्ति का उदय नहीं हो सकता। अतः इन प्रेमाख्यानक कवियों को भक्ति-काव्य के अन्तर्गत रखना किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं है। डा० श्री कृष्ण-लाल ने लिखा है—"सिद्धान्त, रूपक और अभिव्यक्ति तीनों ही दृष्टिकोण

शुक्ल जी की प्रेमाश्रयी शाखा को स्वीकार नहीं किया जा सकता ।"

रीतिकाल

'उत्तरमध्य काल' को शुक्ल जी ने रीतिकाल कहा है । इस काल का परिधि-विस्तार उन्होंने सं० १७०० से १६०० तक माना है। रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्ति है—लक्षण ग्रन्थों का निर्माण और शृंगारिक कविता-सृजन । यहाँ 'रीति' शब्द एक विशेष प्रकार की काव्य-परिपाटी के अनुसरण का द्योतक है। यह काव्य परिपाटी है उदाहरण-लक्षण के सहारे अपनी काव्य-शक्ति का परिचय देना और इस काव्य-प्रेरणा का आकर्षण केन्द्र नारी होना । इस प्रकार जब उदाहरण-लक्षण वाली परम्परा में 'रीति' बीज-भाव होता है, तो वह वास्तव में रीति परम्परा बन जाती है। प्रत्येक रीति-कालीन कलाकार घनानन्द आदि एकाध कवि को छोड़कर, ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से इसी रचना-पद्धति से अपने काव्य-सृजन में परिचालित रहा है। अतः शुक्ल जी ने इसे 'रीतिकाल' नाम दिया है। कतिपय आलोचकों ने वर्ण्य-वस्तु को ध्यान में रखकर इसे शृंगार काल कहा है, क्योंकि "इन रीति ग्रन्थों के प्रणेता भावुक, हृदय और निपुण कवि थे। काव्यांगों के शास्त्रीय विवेचन में उनकी प्रवृत्ति अधिक नहीं रही है—यदि कहीं मौलिकता दिखाई देती है तो शृंगार रस के सरस और हृदयग्राही उदाहरणों में——जो लक्षणों को समझने के हेतु प्रस्तुत किए गए हैं।" इस प्रकार उन्होंने इस वर्ण्य-वस्तु (शृंगार) को ही ध्यान में रखा है जो पद्धति-मात्र से व्यापक है। रीति ग्रन्थों में जितना विवेचन हुआ है, चिन्तामणि त्रिपाठी से लेकर रसिकगोविन्द तक, और उदाहरणस्वरूप जितनी भी सामग्री प्रस्तुत की गई है, शृंगार ही है। शुक्ल जी ने इसमें आपत्ति नहीं की है । उनका कहना है कि "यदि इस काल को कोई रस के विचार से शृंगार काल कहे तो कह सकता है।"

आधुनिक काल

आधुनिक काल को शुक्ल जी ने गद्य-काल कहा है और इसका आरम्भ सन् १६०० से माना है। उनका कथन है कि "आधुनिक काल में गद्य का

आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है।" इसी के आधार पर उन्होंने इसे गद्य-काल नाम दिया है। हिन्दी का प्राचीन साहित्य मुख्य रूप से काव्य-साहित्य था। इस काव्य में मुक्तक और प्रबन्ध दोनों शैलियों का विकास हुआ। आधुनिक युग में यद्यपि हिन्दी काव्य में भी अनेक शैलियों (छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, प्रतीकवाद) का विकास हुआ, किन्तु इस युग की प्रधान विशेषता गद्य साहित्य का अभूतपूर्व विकास है। उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध, आलोचना, उपयोगी साहित्य—इन सभी रूपों का आविर्भाव और उनकी वृद्धि आधुनिक युग में ही हुई। आचार्य शुक्ल हिन्दी के आधुनिक इतिहास को तीन भागों में बाँटते हैं—

प्रथम उत्थान—सं० १६२५ से १६५०

द्वितीय उत्थान—सं० १६५० से १६७५

तृतीय उत्थान—सं० १६७५ से अब तक

शुक्ल जी द्वारा निरूपित आधुनिक काव्य के तीन उत्थानों को कुछ लोग 'भारतेन्दु युग', 'द्विवेदी युग' और 'छायावाद युग' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इधर शम्भूनाथ सिंह ने अपनी पुस्तक 'छायावाद युग' में इन्हें क्रमशः 'जागृति युग', 'पुनरुत्थान-युग' और 'विद्रोह युग' कहना उचित समझा है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त, हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि काल-विभाजन सम्बन्धी प्राप्य सामग्री के आधार पर आचार्य शुक्ल जी की धारणायें विशेष महत्वपूर्ण हैं। डा० नगेन्द्र के शब्दों में काल विभाजन सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री के उचित परीक्षण के उपरान्त आज पं० शुक्ल द्वारा किया हुआ हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन प्रायः सर्वमान्य-सा हो गया है और वास्तव में सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी बहुत कुछ संगत और विवेकपूर्ण है।

प्रश्न ३—वीरगाथाकाल की परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए उनकी विशेषताएँ बतलाइए।

हिन्दी साहित्य में वीरगाथा काल प्रारम्भिक काल है। इस समय भारत में मुसलमान लोग केवल आक्रमणकारी ही नहीं रहे थे वरन् वैभव तथा शिष

आदि प्रान्तों पर आधिपत्य भी प्राप्त कर चुके थे। उस समय मुसलमानों के बराबर आक्रमण हो रहे थे तथा ये लोग अब राजपूताने की ओर भी बढ़ने लगे थे। देश की राजनीतिक परिस्थिति बड़ी ही अशान्तिपूर्ण थी और प्रजा सर्वत्र त्राहि-त्राहि कर रही थी। उस समय आवश्यकता ऐसे राजाओं तथा सम्राटों की थी जो डटकर मुसलमानों से लोहा ले सकें। इन सबके लिए प्रजा को तथा समाज को इस योग्य बनाना था जो देश के लिए अपने जीवन की बाजी सहर्ष लगा सके। जन-जन में युद्धप्रियता की भावना भरने के लिए आवश्यक था कि कवि-गण अपनी रचना व वाणी के द्वारा जन-जन में शक्ति का प्राण फूँक दें।

इस काल में कवियों पर बड़ा ही महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व था। एक ओर तो कवि लोग जन-जन में वीरता की भावनाएँ भर रहे थे तथा दूसरी ओर अपने हाथों में तलवार ग्रहण करके युद्ध में सबसे आगे जाते थे। इस कारण हम उस समय के साहित्य में दो प्रमुख विशेषताएँ पाते हैं—प्रथम तो अधिकतर युद्धों का वर्णन करना तथा उसमें स्वाभाविकता का होना। उस समय कवि केवल अपनी कल्पना के ही बल पर रचनाएँ नहीं किया करते थे अपितु उन्होंने युद्ध के प्रत्येक स्थल का स्वयं देखा हुआ वर्णन किया है। इसी के फलस्वरूप घोड़ों की टाप, हाथियों की चिंघाड़, वीरों का सिंहनाद तथा तलवारों की झन-झनाहट का शब्दचित्र बड़ा ही स्वाभाविक मिलता है। जीवन की अन्तिमसाँस रहते हुए प्रत्येक व्यक्ति युद्ध के लिए तैयार रहता था। बहिनें अपने भाइयों का, माताएँ अपने पुत्रों का तथा पत्नियाँ अपने पतियों का अभिषेक करती थीं तथा उन्हें प्रोत्साहित करती थीं कि जीवन की अन्तिम साँस तक तुम देश के लिए युद्ध करते रहना। स्त्रियाँ हँसते-हँसते अपने सुहाग की बलि देने में ही गौरव सम-झती थीं। वीर-गाथा काल के साहित्य में तत्कालीन परिस्थितियाँ स्पष्ट रूप में दिखलाई देती हैं।

इसका सबसे अधिक श्रेय उस काल के कवियों को है जिन्होंने अपनी वाणी के द्वारा जन-जन में राष्ट्रीय भावना को फूँक दिया। उस समय मांगलिक लोक-गीतों में भी राष्ट्रीय भावना निहित होती थी। हारकर भागे हुए व्यक्ति के

लिए घर का द्वार बन्द होता था। यह तो चिर सत्य है ही कि स्त्री, पुत्रों तथा माताओं का स्नेह ही मनुष्य को उसके कर्म-पथ से हटा देता है किन्तु जब यही लोग मोह नहीं रखेंगे तो जीवन का आनन्द ही क्या होगा! सैनिक जानते थे कि घर पर भागकर जाने से वह पत्नियों द्वारा अपमानित होंगे। समाज से उनकी प्रतिष्ठा उठ जायेगी। इसलिए वह युद्ध-भूमि में प्राण देना श्रेष्ठ समझते थे। कवियों के सम्मुख प्रश्न था कि किस प्रकार जन-जन में वीरता का रक्त प्रवाहित किया जाए। इस भावना को जगाने के लिए कवियों ने कविता का सहारा लिया और इस डगमगाते समय में भी यह स्थिर रहकर तात्कालीन परिस्थितियों का चित्रण बड़ी ही कुशलता से कर सके। कविता में यह शक्ति है कि मानव मात्र में प्राणों का संचार तथा शक्ति, साहस की भावनाएँ फूँक सकती है।

उस समय माताओं को ऐसे पुत्रों की आवश्यकता नहीं थी जो वंशों में वृद्धि कर सकें बल्कि वे ऐसा पुत्र चाहती थीं जिसके आगे शत्रु भी भयभीत हो जाए।

"माई ऐसा पूत जण, जेहड़ा राणा प्रताप,
अकबर सूतो ओझक के, जाण सिरहाने सांप।"

कवियों ने इतने मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण किया है कि हम आज भी उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। एक स्त्री के एक नाइन महावर लगाने आती है तब स्त्री कहती है कि एक दिन ठहर जा, कल तू मन भर के महावर लगा लेना क्योंकि मेरा पति कल युद्ध में जाएगा और वीरगति को प्राप्त होगा। इसमें एक व्यंग्य है। तात्पर्य है कि शत्रुओं की शक्ति असीमित है इसलिए पराजय तो निश्चित है परन्तु फिर भी मेरा पति कायर नहीं है जो शत्रु को पीठ दिखाये—

"नायण आजु न मांडि पग कालि सुणीजै जंग
धारा लागेगो घणी तब दीजो पग रंग।"

क्षत्राणियाँ सोलह शृंगार जौहर के समय ही किया करती थीं। वे अपने यौवन और शृंगार से पति के वीरपथ में बाधक नहीं होना चाहती थीं क्योंकि वे जानती थीं कि—"इस [illegible] घड़ी [illegible] जीने को धिक्कार।"

उस समय कवियों की साधना कठिन थी। वीर रचनाओं द्वारा वीरों को उत्पन्न करने का श्रेय हम इस काल के कवियों को ही देते हैं। यह कवियों का ही कार्य था जिसके द्वारा मुसलमान सदैव ही राजपूतों से थर्राते रहे। जगनिक तथा चन्द आदि आराम से गद्दों पर बैठकर ही कविता करने वाले कवि नहीं थे बल्कि तलवार हाथ में लेकर युद्ध करने वाले योद्धा भी थे। कभी-कभी विषम स्थिति में आशुकविता द्वारा सैनिकों में पुनः जीवन-संचार करते थे और उनको विजयी बनाते थे। संक्षेप में सम्पूर्ण वीरगाथा काल का साहित्य युद्ध की गूँजों से ही भरा हुआ है।

इन सबका अर्थ यह नहीं कि वीर रस के अतिरिक्त अन्य किसी रस पर इस काल में रचना ही नहीं हुई। विद्वानों की गणना द्वारा पता चलता है कि शृंगार रस भी बहुत मात्रा में लिखा गया। उस समय देश छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित था और प्रत्येक खण्ड का राजा अपने आपको सर्वेसर्वा समझता था। उस समय राजाओं की प्रवृत्ति इतनी लड़ने की हो गई थी कि किसी भी राजकुमारी का स्वयंवर बिना खून की धारा बहे नहीं हो सकता था। राजा लोग आपस में लड़ते रहते थे और उन युद्धों का मूल कोई-न-कोई राजकुमारी अवश्य होती थी—"जिहि की बिटिया सुन्दर देखी, तिहि पर जाइ धरे हथियार" आल्हा के इस पद से सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट हो जायगी। कवि लोग अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा जहाँ अतिशयोक्ति द्वारा करते वहाँ उसे किसी राजकुमारी के रूप पर भी आसक्त कराने में नहीं चूकते थे। उनके वर्णन का प्रमुख विषय होता था कि राजकुमारी राजा पर आसक्त है किन्तु पिता के डर के कारण विवश है। अतः तलवार के द्वारा उसके प्रेम को उन्मुक्त करो। इस प्रकार वीर-रस के आवरण में शृंगार की भी प्रवृत्ति रहती थी। श्यामसुन्दरदास इस काल की शृंगार की प्रवृत्तियों के विषय में लिखते हैं—

"वीरों को युद्ध के उपरान्त विश्राम काल में मन बहलाने के लिए प्रेम की आवश्यकता होती है और काव्य में भी रसराज शृंगार के बिना काम नहीं चल सकता। सारांश यह है कि उस काल की

वीरगाथाओं में शृंगार कभी-कभी वीरता का सहकारी और कभी-कभी उसका उत्पादक बनकर आया है और बराबर गौण स्थान का अधिकारी रहा है।"

तात्पर्य यह है कि वीरगाथा काल में शृंगार की भी प्रचुरता है, किन्तु वह वीर रस के ही लिए प्रयुक्त हुआ है। इस समय के कवि अपने राजा की सेना में तो वीरता के भावों को भरते थे, किन्तु उनके आदर्श सीमित ही थे।

वीरगाथा काल का काव्य वीर गीतों तथा प्रबन्ध काव्य के रूप में मिलता है। उस समय के विलास का भी चित्र स्वतः आ गया है। रस के अनुसार भाषा कर्कश और रुक्ष है। कवि लोग समाज के प्रतिनिधि नहीं थे, अपितु अपने आश्रयदाताओं के सेवक थे। ग्रन्थों में इतने क्षेपक हैं कि मूल का पता लगाना कठिन हो जाता है। कवि स्वयं सेनापति थे इस कारण युद्धों का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र मिलता है। डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में, न तो इन वीर गीतों में दार्शनिक तत्वों का समावेश ही है और न इनमें प्राकृतिक दृश्यों का ही मनोरम चित्रण है। इनके शब्दों में एक मुक्त प्रवाह मिलता है। ये तुकांत आदि के बन्धनों में जकड़े हुए नहीं हैं।

इस समय मुक्तक और वीर गीत जितने प्रचलित हुए उतने प्रबन्ध-काव्य नहीं हो सके। दोहा इस समय सबसे अधिक प्रिय छन्द रहा। पृथ्वीराज रासो में सोरठा, छप्पय, कवित्त, शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दों का प्रयोग मिलता है, परन्तु लोकप्रिय दोहा ही है। वीरगाथा काल में खुसरो का भी नाम आता है जिसने हास्य सम्बन्धी रचनाएँ तथा मुकरियाँ आदि लिखी हैं। पर इनकी गणना नहीं के बराबर है।

इस प्रकार हम हास्य और शृंगार सम्बन्धी रचनायें भी पाते हैं, किन्तु ये रचनायें गौण हैं, मुख्य तो वीर रस ही पाया जाता है।

प्रश्न ४. हिन्दी के आदिकाल का उल्लेख करते हुए उसकी प्राप्य सामग्री और भाषा-शैली पर विचार कीजिए।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को हिन्दी साहित्य का 'आदिकाल' कहा जाता है। शुक्ल जी इसी समय को अपभ्रंश काल की संज्ञा देते हैं। इस काल की साहित्यिक तथा प्रधान पुस्तकों के आधार पर इस युग को 'वीरगाथा

काल' भी कहा गया है। शुक्ल जी ने बारह प्राचीन पुस्तकों के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथा काल रखना उचित समझा। इस काल की अधिकांश देशभाषा काव्य की पुस्तकें वीरगाथात्मक थीं। अतः उनकी अधिकता तथा लक्ष्य निरूपण के आधार पर हिन्दी के आदिकाल को वीरगाथा काल कहा गया।

साधारणतः इस युग का आरम्भ दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक माना गया। इस काल में विजयपाल रासो, कीर्तिपताका, कीर्तिलता, हम्मीर-रासो, खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचन्द प्रकाश, जयमयंक-जसचन्द्रिका, परमाल रासो, खुसरो की पहेलियाँ तथा विद्यापति की पदावली आदि प्रसिद्ध साहित्य सौंदर्य-प्रधान ग्रन्थ लिखे गये तथा हिन्दी ग्रन्थों के विषय, उद्देश्य आदि पर विचार करके इस युग को 'वीरगाथा काल' कहा गया। किन्तु बाद के साहित्यिक अध्ययन से इस बात की ओर संकेत किये गये कि आचार्य शुक्ल ने इस काल की जिन पुस्तकों को केवल धार्मिक ग्रन्थ कहकर उपेक्षित किया था उनमें भी सरसता और काव्यत्व तथा साहित्य तत्त्व का प्रधान स्वरूप दिखाई देता है। इस काल के साहित्यकारों में जैन कवि स्वयंभू, चतुर्मुख, [illegible]दन्त, धनपाल आदि का नाम लिया जाता है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के [illegible] आदिकाल के साहित्य के अन्तर्गत इन धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया जाना चाहिए। राहुल जी भी इस मान्यता के समर्थक हैं तथा स्वयंभू को वे हिन्दी का पुराना तथा उत्तम कार्यकर्ता स्वीकार करते हैं।

हिन्दी के आदिकाल की शुक्ल जी द्वारा मान्यता-प्राप्त अनेक पुस्तकें भी आज अप्रामाणिक स्वीकार कर ली गई हैं। उनमें से कुछ पुस्तकें अठारहवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं।

खुमान रासो को अठारहवीं शताब्दी का ग्रन्थ माना गया। भट्ट केदार और मधुकर भट्ट कृत 'जयचन्द प्रकाश' तथा 'जयमयंकजसचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ भी अप्राप्य हैं। जगनिक का 'आल्हखंड' भी अपने वास्तविक रूप में प्राप्त नहीं है। अतः कुछ विद्वानों के अनुसार वीरगाथा काल का साहित्य केवल चारण, भाट आदि की मनोवृत्तियों को सूचित करता है किसी समय विशेष के राजस्थानी साहित्य की प्रवृत्तियों को नहीं। इस युग का साहित्य प्रभु-भक्ति का

साहित्य है। 'युद्ध और प्रेम' वीर गाथाओं का मुख्य विषय रहा। वीर रस प्रधान और शृंगार रस सहायक रूप में स्वीकार हुआ। प्रबन्ध काव्य तथा वीर-गीतों के रूप में ही यह सब साहित्य लिखा गया।

प्रादेशिक बोलियों के साथ ब्रजभाषा तथा मध्यदेश की भाषा के संयोग से जो भाषा बनी वह पिंगल कहलाई। अपभ्रंश भाषा से युक्त शुद्ध राजस्थानी के साहित्यिक रूप को डिंगल कहा गया।

हिन्दी साहित्य के इतिहास निर्धारण में 'पिंगल' ग्रन्थों को ही महत्त्वपूर्ण माना गया। पिंगल भाषा में फारसी, अरबी, तुर्की के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है, अतः अनुमान किया जाता है कि यह शब्द मुसलमानी प्रभाव से ग्रहण कर लिए गये होंगे।

इस काल की पुस्तकों की प्राप्ति के तीन साधन प्रमुख रहे—

(१) राजकीय पुस्तकालय।

(२) धार्मिक सम्प्रदायों के मठ, विहार आदि के पुस्तकालय।

(३) जनता का सहयोग, रुचि तथा प्रेम।

इसके अतिरिक्त बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म के कारण भी इस काल की पुस्तकें सुरक्षित रह गयीं।

योगियों के साहित्य की सुरक्षा सन्त तथा भक्त कवियों के खण्डन-मण्डन से की। सूफी कवियों ने भी योगियों की सिद्धियों, चमत्कारों का वर्णन कर योग-साहित्य के मूल-तत्त्वों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया।

दसवीं शताब्दी से लेकर १४ वीं शताब्दी तक प्राप्त ग्रंथों की भाषा पर विचार करने पर कई प्रकार की भाषा के दर्शन होते हैं—अपभ्रंश, डिंगल, पिंगल, मैथिली तथा खड़ी बोली। विषय की दृष्टि से भी धार्मिक साहित्य, वीरगाथा साहित्य, शृंगार साहित्य तथा दर्शन साहित्य का प्रारम्भिक रूप 'अपभ्रंश' काल के अन्तर्गत ही दिखाई देता है।

अपभ्रंश भाषा बौद्धों की रचनाओं में, जैन आचार्यों के ग्रंथों में, नाथपंथियों के उपदेशात्मक साहित्य में तथा विद्यापति के लिखे दो ग्रंथों में दिखाई देती है। हिन्दी की अपभ्रंश में पूर्ण प्रभाव तथा जैन साहित्य में आकर

अपभ्रंश का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। अपभ्रंश में चरित्र रासक, चतुष्पदी, ढाल, दूहा आदि छन्दों का अधिक प्रयोग किया गया।

डिंगल और पिंगल भाषा का मिश्रित रूप रासो ग्रंथों में दिखाई दिया।

मैथिली भाषा में अपभ्रंश भाषा का जो रूप दिखाई देता है उसमें तत्सम संस्कृत शब्दों का बहिष्कार अधिक नहीं किया गया है।

अपभ्रंश के प्रयोग पर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होता है कि संस्कृत तत्सम शब्द उपकार, नगर, विद्या, वचन आदि में 'उअआर', 'नअर', 'विज्जा', 'वअण' बनाकर तत्कालीन काव्य में प्रयोग किए गये।

अपभ्रंश काल में विशेषण विशेष्य के बीच विभक्तियों का समानाधिकरण कृदन्त विशेषणों से समाप्त हो गया था।

अपभ्रंश काल की भाषा जैसे-जैसे देश भाषा की ओर बढ़ती गई, संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोग को भी स्थान मिलता चला गया।

अमीर खुसरो के काव्य की भाषा में जनता की बोली के वास्तविक रूप के दर्शन होते हैं। अमीर खुसरो की बोली ही विकसित होकर खड़ी बोली कहलाई। इस बोली पर दिल्ली तथा मेरठ की तत्कालीन भाषा का प्रभाव था। खड़ी बोली के प्राचीन रूप के दर्शन अमीर खुसरो की पहेलियों तथा मुकरियों में किये जा सकते हैं। इस भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग हिन्दी क्रियाओं के साथ किया गया है। उदाहरण के लिये खुसरो की पहेलियों की भाषा निम्नलिखित है—

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥

हिन्दी आदिकाल की भाषा के प्रचलित रूप निम्नलिखित उदाहरणों में भी देखे जा सकते हैं—

अपभ्रंश—"जो जिण सासण भाषियऊ, सो मई कहियऊ सारु,
जो पालइ सई भाऊ करि, सो तरि पावइ पारु।"

(देवसेन की श्रावकाचार)

डिंगल—"परणवा चाल्यो बीसल राय, चउरास्या सहुलिया बोलाईं;
जान तणी साजति करउ, जरिहरंगावली पहर ज्यों टोप।"
(नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो)

मैथिली—"कालि कहल पिय साँझहि रे जाइब मोइ मारु देस,
मोइ अभागिलि नहि जानल रे, संग जइतवं जोगिनी बेस।"
(विद्यापति)

इन उदाहरणों से हिन्दी साहित्य का आदि काल भाषा का संक्रांति काल सिद्ध होता है। अपभ्रंश के सरोवर में हिन्दी कुमुदिनी अत्यन्त अव्यवस्थित रूप में अपनी पंखुड़ियों में रूप-रंग समेटती जा रही थी। व्याकरण और पिंगल की शास्त्रीय परम्परा में यह अपने बन्धन शिथिल कर चुकी थी। भाषा अनुशासनहीन हो अपने स्वाभाविक रूप में जनवाणी के रूप में विकसित हो रही थी। छन्दों में भी बन्धनहीनता को अपनाया जा रहा था। संस्कृत के छन्दों का प्रवाह और अनुशासन तो समाप्त हो ही गया था, अन्त्यानुप्रास का मोह भी नष्ट होता जा रहा था।

हिन्दी के आदिकाल के प्रारम्भ तथा अन्त पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी सरलता की ओर तथा कोमलता और मधुरता की ओर अग्रसर होती रही। शास्त्रीय बन्धनों के आग्रह समाप्त होते गए। यह काल पद्य प्रधान काल ही कहा जाएगा। इसी काल को हिन्दी गद्य का 'शैशवकाल' भी कहना चाहिए। गद्य के दर्शन गोरखनाथ की पुस्तकों से, तत्कालीन राजाओं के विवरण पत्र, ताम्रपत्र, शिलालेख आदि में अवश्य होते हैं किन्तु यह गद्य अव्यवस्थित तथा अपरिमार्जित है।

हिन्दी का आदिकाल प्रधानतः पद्य-साहित्य प्रधान युग था। इस युग में शृंगार तथा वीर रस पर पर्याप्त मात्रा में लिखा गया। इस काल की भाषा के सम्बन्ध में अपनी सम्मति देते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—"जिन पुस्तकों के आधार पर इस काल की भाषा-प्रवृत्ति का कुछ आभास पाया जा सकता है उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। कुछ

पुस्तकों की भाषा इतनी परिवर्तित है कि उनके विषय में कुछ भी विचार करना अनुचित मालूम पड़ता है।"

इस कथन से भी हिन्दी के आदिकाल की भाषा सम्बन्धी अव्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

हिन्दी साहित्य के अपभ्रंश काल को या आदिकाल को साहित्य की पूर्व-पीठिका ही समझना उचित होगा।

प्रश्न ५. वीरगाथाकाल के प्रमुख कवियों और काव्यों का परिचय दीजिए।

हिन्दी कविता का जन्म ही युद्धों की गर्जना, तलवारों की झनझनाहट, युद्ध-भूमि में सिसकते हुए सैनिकों की कराहटों के बीच में हुआ। इसलिए वीर-गाथा काल का साहित्य युद्ध-साहित्य होना स्वाभाविक ही है। इस काल के कवियों ने अपनी ओजस्विनी तथा प्रभावपूर्ण वाणी से साहित्य की रचना की। इस काल में अनेक कवियों ने वीर रस की जो रचनाएँ कीं, उनकी गणना करना तो कठिन ही है। फिर भी जिन कवियों के नाम मिलते हैं उनसे तत्कालीन साहित्य के विषय में उनके सत्य का पता चलता है। इस समय दो प्रकार के काव्यों की रचना हुई—

(१) मुक्तक गीत तथा (२) प्रबन्ध काव्य।

पुष्प—कुछ लोग इनको हिन्दी का आदि कवि मानते हैं, किन्तु इस विषय में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। इनका आविर्भाव सं० ७०० के लगभग माना जाता है किन्तु इनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है।

दलपत विजय—इनके नाम से खुमान रासो नामक ग्रंथ पाया जाता है। इसमें चित्तौड़ के राजा खुमान द्वितीय का वर्णन है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रति प्रामाणिक नहीं है क्योंकि इसमें प्रक्षिप्त अंश की प्रधानता है। महाराणा प्रताप का इस प्रति में वर्णन पाया जाता है। खुमान द्वितीय का समय विक्रमी सं० ८७० के लगभग माना जाता है जब कि महाराणा प्रताप १७ वीं शताब्दी में हुए। इस प्रकार इसमें ८०० वर्ष अधिक के वर्णन मिल जाते हैं। दलपत विजय तथा प्रसिद्ध कवि चंदवरदाई के बीच में भी कुछ नाम मिलते

हैं, किन्तु इन कवियों के विषय में न तो कोई निश्चित प्रमाण मिलता है और न उनकी कृतियाँ ही पाई जाती हैं। मार्दान, अकरमकैज, मसूद तथा कुतुबअली आदि कवियों के नाम हैं।

भुवाल—इनका आविर्भाव विक्रम की दसवीं शताब्दी में माना जाता है। इन्होंने भगवद्गीता का अनुवाद दोहे चौपाइयों में किया था। इनका एक ग्रन्थ प्राप्त है जिसमें इन्होंने ग्रन्थ रचना की तिथि दी है—

"संवत कर अब करौं बखाना, सहस्र सो सम्पूरन जाना।
माघ मास कृष्ण पक्ष भयऊ, दुतिया रवि तृतीया जो भयऊ॥"

कवि के कथनानुसार रचना काल सं० १००० माघ कृष्ण पक्ष की द्वितीया तथा तृतीया तिथि एवं रविवार हुआ, किन्तु गणना करने पर यह तिथि ठीक नहीं मिलती। अनुमान से इसकी तिथि १००० कही जा सकती है क्योंकि छन्द भाषा आदि के अनुसार यह रचना १० वीं शताब्दी की ही प्रतीत होती है।

मोहनलाल द्विज—इन्होंने रचनाकाल १२४७ दिया है—

"सुनो कहै यह संवत जानौ।
बारह सातौ सैता मानौ।"

किन्तु भाषा की आधुनिकता के कारण यह रचना प्राचीन प्रतीत नहीं होती। कवि ने मंगलाचरण भी उन शब्दों में किया है जिन शब्दों में केशव ने किया है। इसका अर्थ है कि यह आपस में एक दूसरे से प्रभावित हुए हैं, किन्तु केशव जैसे महान कवि के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह इनके शब्दों को चुनता। अतः यह मोहनलाल केशव के बाद के कवि प्रतीत होते हैं। 'बारह सातौ' के स्थान पर 'अठारह सातौ' कर देने से यह समस्या [illegible] है और यह अठारहवीं शताब्दी के ठहरते हैं। इन्होंने [illegible] रचना की जिसमें अनेक भोजनों का वर्णन है।

नरपति नाल्ह—इनके विषय में कुछ साहित्यिक [illegible] हैं और यही पहले कवि माने जाते हैं। इन्होंने बीसलदेव रासो [illegible] के समय में यह राजकवि प्रतीत होते हैं। यह [illegible] विषय में कवि स्वयं लिखता है—

"बारह सै बहोत्तरां मझारि, जेठ वदी नवमी बुधवारि।
'नाल्ह' रसायण आरंभई, सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि।"

कवि ने अपने वर्णनों में वर्तमान काल का ही प्रयोग किया है। अतः यह राजा बीसलदेव का समकालीन ही ठहरता है। राजा बीसलदेव का होना प्रामाणिक है। इस ग्रन्थ की भाषा में कई परिवर्तन पाए जाते हैं फिर भी भाषा का प्राचीन रूप सुरक्षित है। इस ग्रंथ में कहीं-कहीं अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग पाया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय मुसलमानों का प्रभाव बढ़ने लगा था। गीतात्मक होने के साथ-साथ इसमें प्रबन्धात्मकता भी पाई जाती है। सुकइछै सूखता है, पाटण की पाटन से, आदि शब्दों से इसकी भाषा साहित्यिक राजस्थानी प्रतीत होती है। वीरगाथा काल में रचे जाने पर भी यह ग्रंथ शृंगार रस प्रधान है।

चंद—यही वीरगाथा काल के प्रसिद्ध महाकवि हैं। इनका लिखा हुआ पृथ्वीराज रासो नामक ग्रंथ उपलब्ध होता है। यह प्रसिद्ध पृथ्वीराज के मित्र तथा सेनापति थे। किम्वदन्ती है कि इनको जालंधरी देवी का इष्ट था। यह व्याकरण, काव्य, साहित्य, ज्योतिष, पुराण तथा नाटक आदि सब में पारंगत थे। चंद और पृथ्वीराज की जीवन-घटनाओं में काफी समानता थी। जनश्रुति है कि इनका जन्म भी साथ-साथ हुआ था और मृत्यु भी। चंद द्वारा रचित पृथ्वीराज रासो ग्रंथ में २५०० से अधिक पृष्ठ हैं। इस ग्रन्थ में चंद ने पृथ्वीराज का सारा वृत्तान्त दिया है। चन्द रासो को पूरा नहीं कर पाये थे, उसे बीच में छोड़कर वे युद्ध-क्षेत्र में गए थे। शेष रासो को उनके पुत्र जल्हण ने समाप्त किया था। यह निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है—

"पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज।"

अभी इस ग्रंथ की प्रामाणिकता में सन्देह है। कुछ विद्वान् इसे प्रामाणिक मानते हैं और कुछ अप्रामाणिक। कुछ भी हो, परन्तु हिन्दी साहित्य की यह अपूर्व कृति है।

भट्ट केदार, मधुकर कवि—इनके लिखे "जयचन्दप्रकाश, तथा 'जयमयंक-जसचन्द्रिका' नामक दो ग्रन्थ हैं। इनमें से दूसरा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में जयचन्द की प्रशंसा की है।

जगनिक—इनका जन्मकाल १२३० माना जाता है। ये प्रसिद्ध राजा परमाल के दरबार में रहा करते थे। इन्होंने परमाल के प्रसिद्ध सेनापति आल्हा और ऊदल के सम्बन्ध में ग्रंथ रचा था, किंतु आज यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। आल्हखंड नामक पुस्तक इनके द्वारा रची मानी जाती है। बुन्देलखंड और महोबे में तो आज तक इनकी प्रसिद्धि पाई जाती है। बरसात के आरंभ में अब भी ग्रामीणों के मुख से सुनने में आल्हा मिलेगी। गाँव के सभ्य एवं असभ्य सब ही इसकी स्वर-लहरी सुनने को उत्सुक रहते हैं। इस ग्रन्थ से पता चलता है कि उस समय युद्ध की कितनी महानता थी। युद्ध भी विवाह के लिए हुआ करते थे—

'जेहि की बिटिया सुन्दर देखी, तिहि पर जाय धरे हथियार।'

से ही स्पष्ट हो सकता है। आल्हखण्ड में शृंगार और वीर-रस का सुन्दर समन्वय मिलता है। इसमें तत्कालीन परिस्थितियों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। युद्धों और मारधाड़ के चित्रों के अतिरिक्त भावुकतापूर्ण स्थल भी पाए जाते हैं। एक स्त्री कहती है—

"कारी बदरिया पहन हमारी, कौंधा बीरन लगे हुमार।
आज बरसि जा मेरी कनवज में कंता एक रैनि रहि जाय।"

किन्तु आल्हा की भाषा प्रान्तों के अनुसार बदली हुई पाई जाती है। ब्रज तथा पूर्वी भाषा में भी आल्हा पाई जाती है तथा आज की आल्हा में तो अँगरेजी के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। आल्हा और ऊदल को प्रसिद्धि देने का श्रेय आल्हा को ही है।

श्रीधर—इनकी रणमल्ल छन्द नामक पुस्तक पाई जाती है जिसमें ईडर के राठौर राजा रणमल्ल का वर्णन है। इसकी भाषा वीरगाथाकालीन शैली की ही भाँति है जो निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी—

"ढमढमइ ढमढमकार ढकर ढोल ढोला जंगिया ;
सुर करइ रणसहणाइ समुदाइ सरस रसि समरंगिया।"

शारंगधर—इनका समय १४वीं शताब्दी के लगभग है। हम्मीर रासो नामक ग्रन्थ इनके द्वारा रचा हुआ पाया जाता है। इसके अन्दर हम्मीर का अलाउद्दीन के साथ भयंकर युद्ध का वर्णन है, परन्तु आज तक इसकी प्रामाणिकता कता के विषय में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। इसकी भाषा से यह और भी अर्वाचीन सिद्ध होता है। जयचन्द सूरी का नाम भी आता है जिसका आविर्भाव काल सं० १४६० के लगभग माना जाता है। इसने हम्मीर काव्य में हम्मीर के यज्ञ का वर्णन किया है, किन्तु इनका ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं माना जाता।

नल्लसिंह भट्ट—विजयपाल रासो नामक ग्रन्थ इनके द्वारा रचा हुआ माना जाता है। इस ग्रन्थ में इन्होंने करौली के राजा विजयपाल के युद्धों का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ की भाषा ओजस्विनी है। भाषा अर्वाचीन तथा प्राचीन दोनों ही कोटि की प्रतीत होती है। काव्य की दृष्टि से यह ग्रंथ उच्चकोटि का नहीं जँचता। इसका रचनाकाल १३५० माना जाता है।

प्रश्न ६. पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर विचार कीजिए।

पृथ्वीराज रासो प्रामाणिक ग्रंथ है या अप्रामाणिक, इस विषय पर आलोचकों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यह ग्रन्थ चन्दवरदाई कृत है। चन्दवरदाई हिन्दी के आदि-कवि माने जाते हैं। अतः पृथ्वीराज रासो भी प्रथम ग्रन्थ है। यह ६६ समयों में विभक्त है तथा इसमें ढाई हजार से अधिक पृष्ठ हैं। इसमें कहीं-कहीं ऐसी बातों का वर्णन किया गया है जो इतिहास की दृष्टि से भ्रमपूर्ण हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ही भ्रमपूर्ण है। इसमें कहीं कहीं उच्चकोटि का कवित्व भी आ गया है। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता सम्बन्धी विचारों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. कुछ विद्वान् रासो को प्रामाणिक ग्रंथ मानते हैं और उसमें आई हुई प्रत्येक बात का समर्थन करते हैं। उनके मतानुसार रासो बिल्कुल प्रामाणिक ग्रन्थ है। चन्दवरदाई के वर्णनों से स्पष्ट है कि वह पृथ्वीराज का समकालीन कवि था क्योंकि उसने पृथ्वीराज के सैनिक-कार्यों तक का वर्णन किया है।

२. कुछ विद्वानों के मतानुसार रासो बिल्कुल ही अप्रामाणिक ग्रन्थ है।

उनका कथन है कि चन्द नाम का कोई कवि नहीं हुआ है और न ही उसने रासो की रचना की है। रासो में आई हुई तिथियाँ तथा उसकी माता का नाम बिल्कुल ही गलत हैं क्योंकि इतिहास की तिथियों के अनुसार तिथियाँ तथा नाम आदि नहीं हैं।

३. कुछ विद्वानों का कथन है कि चन्द नाम का व्यक्ति था और उसने रासो की रचना भी की है किन्तु वह रासो आज उपलब्ध नहीं है। आज के रासो में प्रक्षिप्त अंशों के बाहुल्य के कारण वह उसे प्रामाणिक नहीं मानते।

४. कुछ विद्वान तो यह मानते हैं कि चन्द नाम का व्यक्ति था, किन्तु वह यह नहीं मानते कि रासो उसी चन्द नामक कवि की कृति है। क्योंकि प्रस्तुत रासो में जैसी भारी भूलें हैं उन्हें देखते हुए चन्द कृत मानना असम्भव होता है। चंद पृथ्वीराज के इतने निकट था कि उससे ऐसी भूलें होना संगत नहीं लगता।

मुख्य रूप से इस विषय में दो दल बन गए हैं। एक दल तो इसकी प्रामाणिकता स्वीकार करता है तथा दूसरा इसके विरोध में अपने विचार प्रकट करता है।

डा० श्यामसुन्दरदास, प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी, मिश्रबन्धु विश्वनाथ पाण्ड्या आदि इसके पक्ष में हैं तथा श्यामलदास, मुरारीदान, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डा० रामकुमार वर्मा तथा रामचन्द्र शुक्ल आदि इसकी प्रामाणिकता में सन्देह करते हैं।

अब तक रासो की सात प्रतियाँ उपलब्ध हो पाई हैं। इनमें यह कहना कि अमुक प्रति प्रामाणिक है तथा अमुक अप्रामाणिक है असंभव ही है। 'पृथ्वीराज-विजय' नामक संस्कृत प्रति इसके विरोध का प्रमुख कारण है। यह प्रति इतिहास से मिलती है। आलोचकों का कथन है कि "रासो के वर्णन 'पृथ्वीराज विजय' से नहीं मिलते हैं, अतः यह अप्रामाणिक है।"

पृथ्वीराज विजय में तो पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी है। पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज के वर्णन शिलालेखों से मेल खाते हैं। मुंशी देवीप्रसाद के शब्दों में पृथ्वीराज के उत्कर्ष-स्थापन के लिए रासोकार ने बहुत

से राजाओं के कल्पित नाम दिये हैं। कविराज श्यामलदास इस ग्रन्थ को बिल्कुल अप्रामाणिक मानते हैं। उनके मतानुसार यह पृथ्वीराज की मृत्यु के पश्चात् किसी चारण द्वारा रचा गया है। ओझा जी रासो को सं० १४६० से पूर्व की रचना नहीं मानते। वह कहते हैं—"वि० सं० १४६० में हम्मीर काव्य बना। इसमें चौहानों का विस्तृत इतिहास है परन्तु उसमें पृथ्वीराज रासो के मतानुसार चौहानों को अग्निवंशी नहीं लिखा और न उसकी वंशावली को आधार ही माना गया है।"

डा० रामकुमार वर्मा ने भी रासो में बहुत सी असंगतियाँ बताई हैं, जैसे आबू पहाड़ राजा खेत तथा शलख का होना क्योंकि उस समय आबू पर धारा-वर्ष परमाल राज्य करता था और उसका उल्लेख कहीं भी नहीं पाया जाता। रासो में पृथ्वीराज की शक्ति का वर्णन करते हुए गुजरात के राजा भीम-देन का पृथ्वीराज के हाथों मरना दिखाया गया है, किन्तु शिलालेखों के अनु-सार वह १७७८ तक ही जीवित रहे। इस प्रकार इसमें "कपोल कल्पित और मनमानी कथाएँ इतनी अधिक हैं कि वे अविश्वसनीय हैं और उनका इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है।

डा० धीरेन्द्रकुमार वर्मा ने इसकी भाषा के आधार पर तिथि के सम्बन्ध में बाबू गुलाबराय को एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने लिखा कि यह ग्रंथ अपने वर्तमान रूप में १६वीं शताब्दी की रचना है। "भाषा की दृष्टि से रासो का व्याकरण का ढाँचा प्रधानतया १६वीं शताब्दी की ब्रजभाषा है......। शब्दों के रूपों में अपभ्रंशाभास' अवश्य बहुत पाया जाता है। इसी कारण रासो की भाषा के सम्बन्ध में अनेक भ्रम फैल गए हैं। खड़ी बोली के सभी रूप साधारणतया बहुत कम मिलते हैं। रासो के कुछ उदाहरण नीचे दे रहा हूँ जो यदि यह न बताया जाये कि ये रासो के हैं तो उन्हें १६वीं शताब्दी के किसी साधारण कवि का माना जा सकता है।"

"अति गघान सब थान। भए गढ धाम भयानक।
दिष्टि देख सारंए। वैव चिन्ते तव वानिक।"

आचार्य शुक्ल के अनुसार इसमें तिथियाँ ही अशुद्ध नहीं हैं अपितु घटनाएँ

भी अशुद्ध हैं। रासो में पृथ्वीराज का जन्म सं० ११११, गोद जाना ११२२ लिखा है जो इतिहास की तिथियों से मेल नहीं खाता। भाषा भी इसकी शुद्ध और सुगठित नहीं है। इनके विचार में "भाषा की कसौटी पर यदि ग्रन्थ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बेठिकाने है। उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है।" इसके साथ-साथ अरबी और फारसी के शब्दों का मिश्रण भी इसकी प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न करता है।

किन्तु डा० श्यामसुन्दरदास के मतानुसार यह ग्रन्थ प्रामाणिक है। उन्होंने मुनिजिन विजय जी द्वारा प्राप्त चार रासो विषयक छन्दों को प्रामाणिक माना है। उनके विचार में प्रक्षिप्त अंश तो मिल सकते हैं क्योंकि रामायण जैसे ग्रन्थ में, जो इतने वर्षों के बाद लिखा गया, उसमें भी क्षेपक अंश पाये जाते हैं। पुराने शिलालेखों में भी यह रासो का वर्णन बताते हैं। रासो के विषय में इनका मत है कि—"पृथ्वीराज रासो समस्त वीरगाथा काल की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस ग्रन्थ में पाई जाती है उतनी अन्य ग्रन्थों में नहीं।"

इतिहास सम्बन्धी भ्रान्तियों के विषय में भी डा० श्यामसुन्दरदास अनेक तर्क उपस्थित करते हैं—

१—चन्द ने अपने स्वामी के प्रताप का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने आश्रयदाता का बढ़ा-चढ़ाकर ही वर्णन करता है।

२—क्षेपक साहित्य में भ्रान्तियों का कारण है। इस प्रकार क्षेपक तो अनेक काव्यों में पाए जाते हैं।

३—नागरी प्रचारिणी ने इसकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ पट्टे और परवाने प्रकाशित किये थे। उनको हम झूठा नहीं मान सकते।

४—रहा अब अरबी-फारसी के शब्दों का प्रश्न। उनके विचार में शहाबुद्दीन गोरी से लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले महमूद गजनवी भारत में लूटमार करने आ चुका था। महमूद गजनवी से ३०० वर्ष पूर्व भी सिन्ध और मुल्तान पर मुसलमान अधिकार कर चुके थे। पंजाब [illegible]

से प्रभावित था । "चन्द लाहौर निवासी था, अतः बाल्यकाल से ही अरबी-फारसी के शब्द उसके मस्तिष्क में प्रवेश करने लगे थे। इस कारण चन्द की भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का होना स्वाभाविक है ।"

ऐतिहासिक भ्रान्तियों के विषय में मिश्रबन्धुओं का कथन है कि रासो ऐतिहासिक ग्रन्थ न होकर काव्य-ग्रन्थ है। अतः कवि ने इसमें अपनी कल्पना का भी पूर्ण समावेश किया है। चन्द का उद्देश्य था—अपने आश्रयदाता के शौर्य का वर्णन करना और उसके लिए उसने कल्पना का आधार लिया है।

मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या इसकी तिथियों की प्रामाणिकता के विषय में कहते हैं कि राजपूत महानन्द के वंश के ६० वर्ष के शासनकाल को क्षत्रिय शासनकाल नहीं गिनते, अतः रासो में ६० वर्ष घटाकर ही संवत् लिखा गया है।

समर्थकों का कथन है कि रासो का मूल रूप कैसा था यह तो कहना कठिन ही है, किन्तु यह ग्रन्थ चन्द ने नहीं लिखा, बल्कि किसी अन्य कवि ने लिखकर इसे चन्द के नाम से प्रसिद्ध कर दिया असंगत-सा प्रतीत होता है, क्योंकि इतनी प्रसिद्ध रचना को कौन-सा व्यक्ति दूसरे के नाम से प्रसिद्ध करना चाहेगा और यदि कोई व्यक्ति उसके नाम से अपनी रचना प्रसिद्ध करता है तो इसका अर्थ यह है कि चन्द बहुत ही प्रसिद्ध कवि था।

यह तो अकाट्य सत्य है कि इसके पक्ष की तुलना में इसके विरोधी मत अधिक पाये जाते हैं, किन्तु यह कहना कि ग्रन्थ चन्द ने नहीं लिखा और न वह पृथ्वीराज का समकालीन था ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि समाज में इतनी प्रसिद्ध बात को सहसा अविश्वसनीय नहीं माना जा सकता। इतिहासज्ञ पृथ्वीराज का बन्दी होना तथा चन्द द्वारा शहाबुद्दीन की मृत्यु असंगत बताते हैं। इसके लिए यह मत है कि सब वर्णन चन्द ने ही नहीं किए। उसके पुत्र जल्हण ने भी किए हैं। जल्हण अपने आश्रयदाता का वध एक आततायी के हाथों दिखाना नहीं चाहता था। शहाबुद्दीन की चन्द के हाथों मृत्यु दिखाने में केवल राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा की गई है।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि रासो एक उच्चकोटि का ग्रन्थ है, परन्तु अभी तक इसके समर्थक इसको प्रामाणिक सिद्ध करने में अधिक सफल नहीं हो पाए

हैं। कदाचित् नई खोज इनके पक्ष में कोई ठोस सामग्री दे सके पर अभी तक तो यह प्रश्न उलझन का ही है।

प्रश्न ७. डिंगल से क्या तात्पर्य है? इसे स्पष्ट करते हुए 'रासो' शब्द का अभिप्राय भी स्पष्ट कीजिए।

राजस्थानी भाषा, जिसमें अपभ्रंश का अधिक प्रभाव था, अथवा जो पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी भाषा के स्वरूप में दिखाई दी, 'डिंगल' कहलाई। चारणों की साहित्यिक भाषा को भी डिंगल कहा गया। किन्तु भाषा-वैज्ञानिकों की नवीन खोजों के आधार पर डिंगल अथवा मारवाड़ी में उतना ही भेद माना गया, जितना भेद साहित्यिक हिन्दी अथवा बोलचाल की हिन्दी में। 'डिंगल' भाषा के नामकरण के सम्बन्ध में भी विभिन्न विद्वानों ने अपने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा के साहित्यिक रूपों को 'डिंगल' बताया, किन्तु इस शब्द की उत्पत्ति तथा प्रयोग के सम्बन्ध में प्रकाश नहीं डाला। डिंगल शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये गये हैं।

१. विद्वान टैसीटरी के मतानुसार डिंगल भाषा एक गँवारू भाषा थी, किन्तु डिंगल साहित्य की भाव-व्यंजना, अलंकार-योजना आदि को देखकर यह किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता कि यह भाषा गँवारू भाषा है। अतः टैसीटरी महोदय का यह मत भ्रमपूर्ण ही है।

२. हरप्रसाद शास्त्री जी के मतानुसार इसका प्रारम्भिक नाम 'डगल' था, किन्तु पिंगल भाषा के प्रभाव से, तुक मिलाने के प्रलोभन से 'डगल' शब्द को डिंगल शब्द में बदल दिया। जिस प्राचीन छन्द में शास्त्री जी ने डगल शब्द देखा है उससे 'डिंगल' शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। फलतः इस मत को भी विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। डिंगल सम्पूर्ण राजस्थानी साहित्य की भाषा थी। केवल 'डगल' शब्द के एक दो स्थानों पर प्रयोग से ही डिंगल का प्राचीन शाब्दिक रूप डगल नहीं माना जा सकता।

३. श्री गजराज ओझा जी के मतानुसार डिंगल भाषा में 'ड' वर्ण की प्रधानता है, अतः पिंगल की समानता पर 'ड' वर्ण-प्रधान भाषा ...

रक्खा गया। पिंगल के साम्य पर डिंगल नाम रखना भी प्रामाणिक नहीं है और न वर्णों की प्रधानता से भाषाओं के नामकरण की परम्परा ही कहीं दिखाई देती है। अतः इस तर्क को भी विशेष महत्त्व का नहीं समझा गया।

४. डिमगल अर्थात् गले से निकलने वाली डमरू की ध्वनि के आधार पर 'डिंगल' शब्द की उत्पत्ति को स्वीकार करने वालों में पुरुषोत्तम स्वामी का नाम लिया जा सकता है। उनका कहना है कि डिंगल भाषा के उच्चारण में डमरू जैसी ध्वनि गले से निकलती है, अतः डिम + गल (डमरूध्वनि + गला) शब्दों का रूप कालान्तर में डिंगल हो गया। यह तर्क केवल कल्पना मात्र है तथा प्रमाणरहित है। अतः इसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

५. विद्वान उदयराज के अनुसार राजस्थान के लोग पिंगल भाषा को (पंगु) तथा डिंगल भाषा को उड़ने वाली मानते हैं। डग का अर्थ पंख होता है, ल का अर्थ लिए हुए। पिंगल की अपेक्षा 'पंख लिए हुए' जो भाषा मानी गई उसे 'डिंगल' कहा गया। 'डगल' शब्द ही बाद में डिंगल के रूप में परिवर्तित हो गया। यह मत इसलिए प्रमाणित नहीं माना जा सकता कि डिंगल की अपेक्षा डिंगल किस प्रकार उड़ने वाली भाषा सिद्ध होती है ? सरलता की दृष्टि से भी डिंगल, पिंगल से कहीं कठिन है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी 'डगल' शब्द का डिंगल में परिवर्तित हो जाना सहज नहीं है।

६. डाक्टर ग्रियर्सन तथा डा० श्यामसुन्दरदास भी इस मत के समर्थक हैं कि डिंगल शब्द 'पिंगल' शब्द के आधार पर ही गढ़ा गया है। ध्वनि साम्य की सरलता के कारण ही पिंगल के अनुकरण पर डिंगल शब्द बना है। यह मत भी अनुमान मात्र पर ही आधारित माना जा सकता है।

७. राजस्थान के कुछ विद्वान् इस 'डिंगल' शब्द को डिंम + गल तथा कुछ डिग्गी + गल तथा कुछ 'डींग' जैसे राजस्थानी शब्दों से बना हुआ स्वीकार करते हैं।

८. रामकरण जी असोपा तथा ठाकुर किशोरसिंह बारहट 'डिंगल' शब्द की उत्पत्ति 'डींग' तथा 'डीङ' धातुओं से स्वीकार करते हैं। स्वर्गीय चन्द्रधर शर्मा, "उसने कहा था" कहानी के प्रसिद्ध लेखक भी पिंगल के साम्य से ही

'डिंगल' शब्द बना मानते हैं। चन्द्रबली पांडेय जी भी इस मत के समर्थक हैं।

५. राजस्थानी साहित्य का विशेष अध्ययन कर परिणाम निकालने वाले विद्वान् मोतीलाल मेनारिया 'डिंगल' शब्द की उत्पत्ति 'डींगल' से मानते हैं। पुराने राजपूत आज भी डिंगल का उच्चारण डींगल ही करते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति 'डींग' शब्द में 'ल' प्रत्यय जोड़ने से हुई है। मेनारिया जी के मतानुसार, यह भाषा डींगयुक्त अर्थात् अतिरंजना प्रधान है। अतः इसे 'डींगल' कहा गया। कालान्तर में यही शब्द डिंगल बन गया।

यह मत तर्कपूर्ण, खोजपूर्ण तथा अन्य मतों की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण जान पड़ता है। भाषा-विज्ञान के आधार पर भी इस प्रकार का परिवर्तन सम्भव है।

पिंगल भाषा का अर्थ यद्यपि छन्द-शास्त्र है, किन्तु राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा को पिंगल मानने वालों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल [illegible] हैं। कुछ लोगों में पिंगल और डिंगल भाषा के सम्बन्ध में बड़ा भ्रम [illegible] साधारणतया पिंगल भाषा में या तो राजस्थानी का अधिक [illegible] हुआ है, या ब्रजभाषा का। इस प्रकार का कारण कवि की [illegible] ही माना जाना चाहिये। पृथ्वीराज रासो में ब्रजभाषा [illegible] राजस्थानी पर गहरा पड़ा है। इसी प्रकार सूर्यमल्ल लिखित "वंश [illegible] राजस्थानी का प्रभाव अधिक है, ब्रजभाषा का कम। पिंगल [illegible] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—

"हिन्दी साहित्य के इतिहास में केवल पिंगल-भाषा में लिखे हुए ग्रन्थों का ही विचार कर सकते हैं। [illegible] ग्रन्थ पिंगल भाषा के ही मानने चाहिए। डिंगल साहित्य में [illegible] नी, वर्णन आदि भी [illegible]

डिंगल तथा पिंगल शब्द [illegible] के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने विविध विचार प्रकट किए हैं। [illegible] इतिहासकार गार्सां द [illegible] उत्पत्ति 'राजपूत' शब्द से मानते हैं। [illegible] चन्द्र की "[illegible] बदई, शारदा कुमारी [illegible] के आधार पर शुक्ल जी [illegible] शब्द से परिवर्तित शब्द मानते हैं। कुछ विद्वान 'रा[illegible]

इसके उपरान्त 'रासो' शब्द का बनना मानते हैं। चन्द्रबली पांडेय संस्कृत के 'रासक' शब्द से रासो शब्द का बनना स्वीकार करते हैं।

'रासो' सम्भवतः ऐसे काव्य के लिए प्रचलित शब्द विशेष है जिसमें वीररस तथा शृंगार रस का विशेष महत्त्व दिया जाए।

संस्कृत में 'रासक' रूपक अथवा उपरूपक के लिए प्रयुक्त हुआ है। नाटकीयता पृथ्वीराज रासो में भी पाई जाती है। किन्तु सभी 'रासो' ग्रन्थों में 'रासक' शब्द के गुणों का मिलना कठिन है।

ऐसा जान पड़ता है कि 'रासो' शब्द 'रसायण' शब्द या 'रस' को महत्त्व देने वाले काव्य विशेष के आधार पर बना हो। ब्रज में 'रासो' का अर्थ झगड़ा भी होता है। अतः युद्ध का वर्णन करने वाले ग्रन्थों को भी 'रासो' शब्द की संज्ञा दी जानी सम्भव है।

यह कहना कि डिंगल-पिंगल, अथवा रासो शब्द अचानक जोड़ लिये गए, उचित नहीं जान पड़ता। राजस्थानी जनता में इन शब्दों का व्यापक प्रचार यह सिद्ध करता है कि इन शब्दों को जनता की स्वीकृति का वरदान प्राप्त था। अतः इन शब्दों की वास्तविक उत्पत्ति को जानने के लिये राजस्थानी जनता की तत्कालीन बोली का विशेष अध्ययन किया जाना चाहिये। आज डिंगल, पिंगल तथा रासो शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो मत प्रचलित हैं उनमें कुछ अनुमान पर, कुछ दो-चार शब्दों के प्रयोगों पर और कुछ लोक-प्रचलित भ्रमों पर आधारित हैं। डिंगल के सम्बन्ध में मेनारिया जी, पिंगल तथा रासो के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के तर्क अधिक न्यायसंगत जान पड़ते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि डिंगल भाषा में लिखे गये ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के आदिकाल की महत्त्वपूर्ण पूँजी के रूप में आज भी अपनी उचित प्रतिष्ठा बनाये हुए हैं।

प्रश्न ८—हिन्दी की निर्गुण, सगुण धाराओं पर योगमार्गी नाथ-परम्परा का प्रभाव स्पष्ट कीजिये।

बौद्ध-धर्म का विकृत तथा अन्तिम रूप महायान तथा हीनयान के स्तर से होकर वज्रयान तथा सहजयान में दिखाई दिया। महायान, वज्रयान तथा

हीनयान, वज्रयान बनकर लोकहित तथा सदाचार की भावना से शून्य होते गये।

वज्रयान शाखा के योगी 'सिद्ध' नाम से प्रसिद्ध हुए। इन सिद्धों में 'सरह' अथवा 'सरहपा' नामक सिद्ध बहुत प्रसिद्ध हुए। इनकी साधना में, योग-तंत्र, मद्य, स्त्री-सत्संग आदि का विधान था। निर्वाण-सुख स्त्री-सहवास सुख की समता में अधिष्ठित किया गया। इन सिद्धों की संख्या चौरासी कही जाती है। भारत का पूर्वी भाग तथा नालन्दा, विक्रमशिला आदि स्थान इनके प्रधान साधना-स्थल तथा शिक्षा-केन्द्र थे।

वज्रयान से ही नाथपंथ की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है। नाथपंथी सन्त योगी कहलाये। इन्होंने अश्लीलता तथा वीभत्सता को अपने पन्थ से अलग रक्खा। स्त्री को अवेश-परीक्षा के रूप में ग्रहण किया गया। आन्तरिक साधना में यम, नियम, प्राणायाम आदि बातों पर बल दिया। इन योगियों की भाषा सधुक्कड़ी तथा प्रादेशिक प्रभावों से पूर्ण थी। इन्होंने निवृत्ति मार्ग को अपनाया। इन्हें हठयोगी भी कहा गया। राजपूताने और पंजाब में हठयोग का अधिक प्रचार रहा। इनमें ९ प्रसिद्ध हठयोगी हुए।

सिद्ध तथा योगियों द्वारा जो ग्रन्थ लिखे गए वे प्रचारात्मक थे। इनके ग्रंथों में उनके संस्कार, परम्परा तथा साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों का वर्णन मिलता है। भाषा के विचार की दृष्टि से भी इन ग्रंथों को अधिक महत्त्व दिया गया। इन ग्रंथों की भाषा लोकभाषा रही। इस साहित्य के प्रस्तुतकर्ता सिद्ध और योगी प्रायः निम्नवर्ग के व्यक्ति थे। अतः इन्होंने जाति-पाँति, तीर्थाटन, मूर्ति-पूजा आदि का विरोध किया। पाण्डित्य की उपेक्षा की। मनमाने रूपक, उलटी बानी आदि के माध्यम से रहस्यवादी बन, विद्वानों की उपेक्षा करने में इन्हें सहज ही सफलता मिली। इन्होंने योग से सम्बन्धित 'नाद', 'बिन्दु', 'सुरति', 'निरत' आदि शब्द की आन्तरिक साधना की व्याख्या करने के लिए प्रयुक्त किए। कबीर साहब में भी बहुत से शब्द नाथपंथियों से ग्रहण किए गए हैं। 'साखी' और 'बानी' शब्द भी इसी पन्थ की देन हैं। नामवरसिंह, "हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग" नामक ग्रंथ में लिखते [illegible]
के दोहों में जो अनेक आत्मपरक और मार्मिक हों

माहू में भी मिलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इन लोक-प्रचलित दोहों को कबीर ने भक्तिपरक पानी देकर अपना लिया।" इस उद्धरण से प्रकट है कि नाथपन्थियों तथा सिद्धों की लोक प्रचलित भाषा को ग्रहण करने की परम्परा कबीर के काव्य में सुरक्षित रही। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव स्वीकार करते हैं। ग्रंथों के विवेचन की जो प्रणाली हिन्दी के प्रारम्भिक युग में दिखाई दी, उस चिन्ता पारतन्त्र्य का मूल बौद्ध-धर्म में ही मिलता है।

कुमारिल तथा शंकराचार्य के प्रभाव ने बौद्ध-धर्म को लोकमत के अधिक निकट ला दिया। जादू, टोना, टोटका आदि के प्रचार ने इन शिक्षाओं के प्रति आदर तथा भय का भाव जनता के हृदय में भर दिया। भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य पर जो इस सिद्ध तथा नाथ परम्परा का प्रभाव पड़ा वह उग्र न होकर सन्तों की सरसता तथा समन्वय भावना के कारण नियन्त्रित रहा।

निर्गुण सन्तों में जो बाहरी विधि-विधान, पर्व-स्नान, तीर्थाटन आदि का विरोध पाया जाता है उस पर सिद्धों तथा योगियों का स्पष्ट प्रभाव है। रहस्यवादी भावनाएँ भी सिद्ध तथा योगियों के साहित्य की देन समझनी चाहिये। नाथपन्थियों के साहित्य में प्रेमाभाव तथा शुष्कता की कमी को अवश्य ही भक्त कवियों ने भक्त और प्रेम की सरसता से पूर्ण किया।

हठयोगियों का प्रभाव जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों में भी दिखाई देता है। आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "जायसी आदि सूफी कवियों ने हठयोग और रसायन की कुछ बातों को भी अपनी कहानियों में स्थान दिया है।"

भक्ति साहित्य में जो उलटबांसियों का रूप दिखाई देता है वह भी हठयोगियों के रहस्यवाद का भक्तिकालीन नवीन संस्करण मात्र है। गुरु की महिमागान भी भक्ति साहित्य में सिद्ध और योगियों की देन है। 'शून्यवाद' जो निर्गुण कवियों की कविता की प्राणदा शक्ति ही है इन सन्तों को योगियों की परम्परा से ही प्राप्त हुआ था। भाषा तथा अन्य प्रभावों के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, "जहाँ तक उनके उपस्थापन पद्धति, विषय,

भाव, भाषा, अलंकार, छन्द, पद आदि का सम्बन्ध है, वे सन्त सौ फीसदी भारतीय परम्परा में पड़ते हैं। उनके पारिभाषिक शब्द' उनकी रूढ़ि विरोधता' उनकी खंडनात्मक वृत्ति और उनकी अवखंडता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है।"

योगमार्गी तथा नाथ परम्परा का प्रभाव हिन्दू और मुसलमान दोनों सन्त तथा फकीरों पर पड़ा। अन्तः साधना तथा बाह्याडम्बर विरोध ने योगी और सिद्धों के प्रभावों से हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को ही प्रभावित किया।

योगी और सिद्धों की परम्परा में सामाजिक बन्धनों के प्रति जो उपेक्षा का भाव है उसे भी निर्गुणसाहित्य में सहज ही स्वीकार कर लिया गया।

निर्गुण साहित्य में योगी तथा सिद्ध परम्परा का विशेष प्रभाव पड़ा, किन्तु सगुण भक्ति शाखा के कवियों ने योगी तथा सिद्धों के कुछ ही प्रभावों को ग्रहण किया गया है। गुरुभक्ति, निर्गुण परमात्मा की ओर संकेत आदि सगुण कवियों में भी प्राप्त होते हैं। सगुणोपासना पर इसलिये योगी तथा सिद्धों का अधिक प्रभाव नहीं पड़ सका कि इस धारा का मूल स्रोत उपनिषद् साहित्य था किन्तु योगी और सिद्ध पुस्तक ज्ञान की उपेक्षा कर अन्तःसाधना और को पढ़ाने से ही अपना गौरव समझते थे।

इन साधकों का प्रभाव ज्ञानमार्गी तथा प्रेममार्गी साहित्य पर ही विशेष रूप से पड़ा। सगुणमार्गी भक्ति साहित्य पर साधकों के प्रभाव की मात्रा बहुत कम दिखाई देती है। सगुण भक्तों ने सिद्ध और योगी साहित्य परम्परा से अहिंसा, करुणावाद, जगत की निःसारता आदि तत्व तो ग्रहण किये, किन्तु सिद्धों की कटुता, शुष्कता और खण्डनात्मक गुणों को यह अपनी कोमल, उदार, सरल तथा स्नेहयुक्त वृत्तियों के कारण नहीं अपना सके। सगुण भक्ति धारा पर वैदिक मर्यादा, पूजा, अर्चना, सामाजिक भेद इत्यादि का अधिक प्रभाव रहा। ऐसे प्रभावों के बीच सिद्ध तथा योगियों की परम्परा का न्यून प्रभाव ही ग्रहण किया जा सकता था। अतः यह कहना उचित ही है कि सगुण भक्ति-धारा पर नाथ तथा सिद्ध-साहित्य परम्परा का अधिक [illegible] नहीं पड़ा, किन्तु निर्गुण भक्ति धारा पर इन साधकों का प्रभाव [illegible] गहरा था।

भक्तिकाल पर योगी तथा सिद्धों का जो प्रभाव पड़ा उससे भक्तिकाल के साहित्य में खण्डन, रीति विरोध तथा अन्धश्रद्धा जैसे तत्वों का पोषण हुआ। भक्तिकाल की निर्गुण धारा पर निःसन्देह योगी तथा सिद्ध-साहित्य का प्रभाव पड़ा जिसे निर्गुण धारा काव्य में सहज ही पहिचाना जा सकता है।

प्रश्न ६—वीरगाथाकाल के वीर रसात्मक काव्यों की तुलना द्वितीय उत्थान काल की वीर रसात्मक रचनाओं से कीजिए।

हिन्दी साहित्य में वीर रस से युक्त काव्य के दर्शन वीरगाथाकाल से लेकर आधुनिक काल के काव्य तक निरन्तर होते रहे हैं। कभी इस वीर रसात्मक काव्य का स्वरूप बहुत स्पष्ट होकर हमारे सामने उपस्थित हुआ है, तो कभी यह वीर-काव्यधारा अत्यन्त दीन-हीन-सी दिखाई दी है। हिन्दी में वीरगाथा काल में जिस शूरत्व, बलिदान तथा पौरुष के दर्शन हुए, वह परिस्थितियों के बदलने के साथ-ही-साथ अपना रूप परिवर्तित करता रहा। हिन्दी काल के प्रारम्भिक काल को हम सामान्यतः वीरगाथाकाल कहते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिये कि इस युग के उपरान्त वीर रस काव्य लिखा ही नहीं गया।

वीरगाथाकाल में, जिस वीर-काव्य का जन्म तथा विकास हुआ उसके लिये उस युग की परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। वह काल युद्धों का था। राजा अपने सीमित मान, सम्मान की परिधि में युद्धों द्वारा अपने अहं का पोषण कर रहे थे। ऐसी अवस्था में कवियों के लिए आवश्यक लोगता था कि वे अपनी कलम से तलवार का काम लें। कवि को युद्ध वर्णन, वीर वर्णन, आक्रमण वर्णन, शृंगार वर्णन करके अपने युग को प्रतिबिम्बित करना था। वीर रस प्रधान और शृंगार रस अप्रधान बनकर इस युग के काव्य में प्रतिबिम्बित हुआ। चंद, नरपति नाल्ह, जगनिक, भट्ट केदार, श्रीधर जैसे कवि इस काल के प्रमुख कवियों में दिखाई दिये। ये कवि युद्धों में भाग लेते थे और काव्य में अपनी प्रत्यक्ष देखी घटनाओं का अत्यन्त सजीव वर्णन करते थे। इस युग के कवि के सामने राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रश्न ही न था। प्रभु-भक्ति की न्यूनता इस काव्य में अवश्य दिखाई देती है। इन कवियों के सामने प्रश्न देश

भूषण इस युग के सभी कवियों से आगे निकल गये। एक ओर शत्रु पक्ष की कायरता, दूसरी ओर मित्र पक्ष के वीरत्व का अच्छा वर्णन इस युग के कवियों ने किया। भूषण, सूदन, लाल, मान तथा पद्माकर ने वीर रस सम्बन्धी सुन्दर कविताएँ लिखीं।

आधुनिक काल में अंग्रेजों के अत्याचारों से राष्ट्रीयता की भावना उग्र होती चली गई। देशभक्ति के आवेग में प्राचीन भारतीय वीरता का दिग्दर्शन किया जाने लगा। आधुनिक वीरत्व हीनता पर दुःख प्रकट किया गया। राम, कृष्ण, अर्जुन, अभिमन्यु आदि प्राचीन पौराणिक वीर पुरुषों की वीरता का प्रभावकारी उल्लेख हुआ। मैथिलीशरण गुप्त के 'भारत भारती' में प्राचीन वीरता का गुणगान किया गया।

गांधीवादी तथा छायावादी युग की प्रवृत्तियों ने वीर रस के विकास-प्रसार को बहुत ठेस पहुँचाई। नेताओं के आन्तरिक गुणों का संयम तथा अहिंसा आदि का काव्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस काल में भी वीर रसात्मक अनुभूतियाँ नितान्त नष्ट नहीं हो सकीं। दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के काव्य में राष्ट्रीय असन्तोष का स्वर अत्यन्त ओजपूर्ण भाषा में व्यक्त किया गया। श्यामनारायण पांडेय के 'हल्दीघाटी' के युद्ध में भी महाराणा प्रताप ने चेतक पर चढ़कर तलवार उठाकर अपनी जवानी को सफल किया।

सुभद्राकुमारी चौहान ने भी मर्दानी लक्ष्मीबाई को खूब लड़ाया, किन्तु यह वीर रस साहित्यिक वीर रस ही था। कवियों की यह वीरता मौखिक थी, क्रियात्मक जीवन में कवि गांधी जीवन तथा कार्यकलापों से प्रभावित रहे। फिर भी इन कवियों की रचनाओं में उग्र आन्तरिक भावनाओं का अच्छा परिपाक हुआ।

छायावादी युग के उपरान्त प्रगतिवादी विचारधारा ने वीररस को प्रभावहीन जोशीली आवाज मात्र बना दिया। नारेबाजी और हुंकार तो बहुत रूपों से काव्य तथा साहित्य के विभिन्न रूपों में सुनाई दी, किन्तु वीर रस की आत्मा जैसे इस युग में आकर कुण्ठित हो गई। साहित्यकारों ने वीरत्व-प्रधान ओज को सहानुभूति प्रधान जोश में बदल दिया। इस परिवर्तन पर युगीन राजनीति

का गहरा प्रभाव था। प्रगतिवादी कवियों ने सर्वहारा वर्ग का रूप चित्रित किया किन्तु वर्णन में वीरत्व कम तथा करुणा का प्रभाव ही अधिक रहा। पूँजीवाद के विरुद्ध जिस वीर रस का प्रधान शस्त्र की तलवार के रूप में प्रयोग करने के ओर की विदेशी क्रान्तियों के प्रभाव से बाढ़ आई, उसमें न उमंग थी न ओज था और न वीर रस का पूर्ण प्रभावशाली परिपाक ही था। इस आधुनिक युग के वीर-रसात्मक काव्य को मौलिक वीरत्व-प्रधान काव्य समझना चाहिये।

वीर रस की रचनाओं के द्वितीय उत्थान काल से तात्पर्य, रीतिकालीन वीर-रसात्मक काव्य से माना जाता है। वीरगाथाकाल तथा रीतिकाल के वीर काव्य का सृजन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुआ, किन्तु दोनों ही काल के वीर काव्य प्रणेताओं में अपने प्रभुओं का गुणगान करने की विशेष प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। वीर काव्य के प्रथम उत्थान तथा द्वितीय उत्थान दोनों ही कालों की भाषा वीर-रस के लिए उपयुक्त रही। वीर-रस के प्रथम उत्थान काल में राष्ट्रीयता की भावना अत्यन्त संकुचित रही, किन्तु द्वितीय उत्थान काल में कुछ विस्तृत दिखाई दी। रीतिकालीन वीर काव्य में हिन्दू राष्ट्रीयता की [illegible] का स्पष्ट रूप दिखाई देता है। वीरगाथाकालीन वीर रस में ऐतिहासिकता की अवहेलना की गई, किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति द्वितीय उत्थान काल के कवि विशेष रूप से सजग दिखाई देते हैं।

वीर-रस के प्रथम उत्थान में वीर-रस के साथ शृंगार रस को भी सहयोगी बनाया गया, किन्तु द्वितीय उत्थान में यह परम्परा क्षीण हो गई और केवल वीर-रस को ही प्रधानता दी गई। केशव तथा पद्माकर में अवश्य ही शास्त्रीय पद्धति के शृंगार का कुछ वर्णन मिलता है।

वीरगाथा काल में वीर काव्य का भाव सुन्दर, सशक्त तथा कला पक्ष दुर्बल था। इसमें युद्ध के प्रत्यक्ष अनुभवों का प्रभाव अधिक था किन्तु रीतिकालीन वीर-रस काव्य में भाव पक्ष तथा कला पक्ष का सुन्दर समन्वय हुआ।

प्रथम उत्थान काल की भाषा में अपभ्रंश तथा पुरानी हिन्दी का स्वरूप दिखाई देता है। यह भाषा डिंगल के प्रभाव से प्रभावित थी, किन्तु रीतिकालीन वीर-काव्य में ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप देखने को मिलता है।

भूषण इस युग के सभी कवियों से आगे निकल गये। एक ओर शत्रु पक्ष की कायरता, दूसरी ओर मित्र पक्ष के वीरत्व का अच्छा वर्णन इस युग के कवियों ने किया। भूषण, सूदन, लाल, मान तथा पद्माकर ने वीर रस सम्बन्धी सुन्दर कविताएँ लिखीं।

आधुनिक काल में अंग्रेजों के अत्याचारों से राष्ट्रीयता की भावना उग्र होती चली गई। देशभक्ति के आवेग में प्राचीन भारतीय वीरता का दिग्दर्शन किया जाने लगा। आधुनिक वीरत्व हीनता पर दुःख प्रकट किया गया। राम, कृष्ण, अर्जुन, अभिमन्यु आदि प्राचीन पौराणिक वीर पुरुषों की वीरता का प्रभावकारी उल्लेख हुआ। मैथिलीशरण गुप्त के 'भारत भारती' में प्राचीन वीरता का गुणगान किया गया।

गांधीवादी तथा छायावादी युग की प्रवृत्तियों ने वीर रस के विकास-प्रसार को बहुत ठेस पहुँचाई। नेताओं के आन्तरिक गुणों का संयम तथा अहिंसा आदि का काव्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस काल में भी वीर रसात्मक अनुभूतियाँ नितान्त नष्ट नहीं हो सकीं। दिनकर, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के काव्य में राष्ट्रीय असन्तोष का स्वर अत्यन्त ओजपूर्ण भाषा में व्यक्त किया गया। श्यामनारायण पांडेय के 'हल्दीघाटी' के युद्ध में भी महाराणा प्रताप ने चेतक पर चढ़कर तलवार उठाकर अपनी जवानी को सफल किया।

सुभद्राकुमारी चौहान ने भी मर्दानी लक्ष्मीबाई को खूब लड़ाया, किन्तु यह वीर रस साहित्यिक वीर रस ही था। कवियों की यह वीरता मौखिक थी, क्रियात्मक जीवन में कवि गांधी जीवन तथा कार्यकलापों से प्रभावित रहे। फिर भी इन कवियों की रचनाओं में उग्र आन्तरिक भावनाओं का अच्छा परिपाक हुआ।

छायावादी युग के उपरान्त प्रगतिवादी विचारधारा ने वीररस को प्रभाव-हीन जोशीली आवाज मात्र बना दिया। नारेबाजी और हुंकार तो बहुत रूपों से काव्य तथा साहित्य के विभिन्न रूपों में सुनाई दी, किन्तु वीर रस की आत्मा जैसे इस युग में आकर कुण्ठित हो गई। साहित्यकारों ने नीरव-प्रधान ओज को सहानुभूति प्रधान जोश में बदल दिया। इस परिवर्तन पर युगीन राजनीति

का गहरा प्रभाव था। प्रगतिवादी कवियों ने सर्वहारा वर्ग का रूप चित्रित किया किन्तु वर्णन में वीरत्व कम तथा करुणा का प्रभाव ही अधिक रहा। पूँजीवाद के विरुद्ध जिस वीर रस का प्रधान काव्य की तलवार के रूप में प्रयोग करने के शौक की विदेशी क्रान्तियों के प्रभाव से बाढ़ आई, उसमें न उग्रता थी न ओज था और न वीर रस का पूर्ण प्रभावकारी परिपाक ही था। इस आधुनिक युग के वीर-रसात्मक काव्य को मौलिक वीरत्व-प्रधान काव्य समझना चाहिये।

वीर रस की रचनाओं के द्वितीय उत्थान काल से तात्पर्य, रीतिकालीन वीर-रसात्मक काव्य से माना जाता है। वीरगाथाकाल तथा रीतिकाल के वीर काव्य का सृजन भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुआ, किन्तु दोनों ही काल के वीर काव्य प्रणेताओं में अपने प्रभुओं का गुणगान करने की विशेष प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। वीर काव्य के प्रथम उत्थान तथा द्वितीय उत्थान दोनों ही कालों की भाषा वीर-रस के लिए उपयुक्त रही। वीर-रस के प्रथम उत्थान काल में राष्ट्रीयता की भावना अत्यन्त संकुचित रही, किन्तु द्वितीय उत्थान काल में कुछ विस्तृत दिखाई दी। रीतिकालीन वीर काव्य में हिन्दू राष्ट्रीयता की अस्पष्ट गन्ध का स्पष्ट रूप दिखाई देता है। वीरगाथाकालीन वीर रस में ऐतिहासिकता की अवहेलना की गई, किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति द्वितीय उत्थान काल के कवि विशेष रूप से सजग दिखाई देते हैं।

वीर-रस के प्रथम उत्थान में वीर-रस के साथ शृंगार रस को भी सहयोगी बनाया गया, किन्तु द्वितीय उत्थान में यह परम्परा क्षीण हो गई और केवल वीर-रस को ही प्रधानता दी गई। केशव तथा पद्माकर में अवश्य ही शास्त्रीय पद्धति से शृंगार का कुछ वर्णन मिलता है।

वीरगाथा काल के वीर काव्य का भाव सुन्दर, सशक्त तथा कला प्रबल था। उसमें युद्ध के प्रत्यक्ष अनुभवों का प्रभाव अधिक था, किन्तु रीतिकालीन वीर-रस काव्य में भाव पक्ष तथा कला पक्ष का सुन्दर समन्वय हुआ।

प्रथम उत्थान काल की भाषा में अपभ्रंश तथा पुरानी हिन्दी का स्वरूप दिखाई देता है। यह भाषा डिंगल के प्रभाव से प्रभावित थी, किन्तु रीतिकालीन वीर-काव्य में ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप देखने को मिलता है। प्रथम उत्थान

में वीर गीतों की प्रधानता है, तो द्वितीय उत्थान में प्रबन्ध अथवा मुक्तक छन्दों की।

इस प्रकार दोनों उत्थानों के वीर-रसात्मक काव्य पर विचार करने पर विदित होता है कि वीरगाथाकाल से अब तक वीर काव्य किसी-न-किसी रूप में अपनी सत्ता बनाये रहा है तथा यह भी सहज ही स्वीकार किया जाना चाहिए कि वीरगाथाकाल में वीर-रस का जैसा व्यापक, विशद एवं सर्वांगीण वर्णन हुआ वैसे अन्य युगों के वीर-रसात्मक काव्य में न हो सका। वीर-रस की वास्तविक आत्मा के दर्शन वीर-गाथा काल में ही होते हैं। आज भी इस काल का साहित्य काव्यरस-उदधि में प्रकाश स्तम्भ बनकर अपनी आलोक-रश्मियाँ बिखेर रहा है।

प्रश्न १०—हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय भावना के विकास-क्रम को स्पष्ट कीजिए।

हिन्दी साहित्य में जहाँ शृंगार रसराज होने का गौरव प्राप्त कर रहा है, करुण रस अपनी वेदना का अमिट प्रभाव छोड़ रहा है, वहीं दूसरी ओर वीर रस भी मनुष्य की रग-रग में वीरता, उत्साह एवं शौर्य की भावना भर रहा है। हिन्दी साहित्य में शृंगार, वीर, शान्त एवं करुण रसों की प्रधानता रही है। नवरसों में वीर रस का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वीर रस की महत्ता इससे भी प्रतीत होती है कि कोई भी महाकाव्य वीर, शृंगार तथा शान्त रस में लिखा जाना चाहिये। वीर रस का स्थायीभाव उत्साह है और उत्साह ही जीवन का मूल-भाव है। उत्साह की भी कई कोटियाँ होती हैं। उसी के अनुसार विद्वानों ने चार प्रकार के मुख्य वीरों को माना है—युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर और दयावीर। कई विद्वानों ने सत्यवीर एवं न्यायवीर कितने ही भेद किये हैं। वियोगी जी ने वीर-सतसई में सबके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। हिन्दी साहित्य में वैसे अधिकतर युद्धवीर का वर्णन हुआ है।

हिन्दी साहित्य के चारों कालों में वीर रस पाया जाता है। "वीरगाथा काल" शब्द तो इस बात का द्योतक ही है। भारतीय साहित्य का आदिकाल वीर रस प्रधान है। इस समय को हम दूसरा महाभारत काल भी कह सकते

है। कवि अपने युग का निर्माता, द्रष्टा एवं प्रतिनिधि सब कुछ ही होता है। इस कारण वह अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

वीरगाथाकाल में भारत की दशा बड़ी ही दयनीय थी। मुगलों के बराबर आक्रमण हो रहे थे। जनता सर्वत्र त्राहि-त्राहि कर रही थी। देश छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित था। अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए ज़रा-ज़रा सी बात पर युद्ध आरम्भ हो जाते थे। विवाह जैसे शुभ कार्य का भी युद्ध के बिना सम्पन्न होना सम्भव नहीं था। देश के चारों कोनों से रणचण्डी का भैरव नाद सुनाई दे रहा था। मुख्यतः, प्रेम और युद्ध दो ही भाव इस युग की जान थे। स्त्रियों के कारण युद्ध होने से कहीं-कहीं तो प्रेम के गीत सुनाई देते हैं, किन्तु युद्धों की गर्जना के आगे यह गीत दब गए हैं।

वीरगाथा काल का नाम चारण काल भी है। क्योंकि इस समय कविगण अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में पद रचना किया करते थे और समय पड़ने पर हाथ में तलवार लेकर युद्ध में कूद पड़ते थे। फलस्वरूप चारणों का युद्ध वर्णन बड़ा ही स्वाभाविक है। युद्धस्थल पर खड़ी हुई सेनाओं तथा उनके आक्रमण की रीतियों का जितना स्वाभाविक एवं चित्रमय चित्रण इस युग के कवियों ने किया है, उतना उसके बाद के अन्य कवियों ने नहीं। चारणों की कविता में शस्त्रों की झंकार सुनाई देती है जिसे पढ़कर पाठक का हृदय भी उत्साह से भड़क उठता है।

आनन्द से झूमते हुए ग्रामीणों के मुख से आल्हा सुनने पर तो एक बार प्रत्येक की रग-रग में वीर रस का संचार हो जाता है। इसकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण इसकी वीर भावना ही है। आल्हा में तो स्पष्ट कह दिया है—

"बारह बरिस लों कूकर जीए,
और तेरह लों जिए सियार।
बरसि अठारह क्षत्री जीए,
आगे जीने को धिक्कार।"

वीर रस का सफल प्रसार तब हो सकता है जब

वीरगाथाकाल में भाषा, छन्द तथा शैली सबमें ही ओज पाया जाता है। अनुप्रास और अनुस्वार ने तो वीर रस में प्राण ही फूँक दिये हैं।

इतना होने पर भी हम वीरगाथा काल में राष्ट्रीयता का बिल्कुल अभाव पाते हैं। इस विषय में गंगाप्रसाद पाण्डेय कहते हैं, "तुलसी का वीर रस एवं भूषण का शौर्य भाव उससे कहीं अधिक प्राकृतिक एवं परिपूर्ण है।" इसका कारण है कि चारण लोग राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर रचना नहीं करते थे अपितु वह तो जिसका खाते थे उसी का गुणगान करते थे। इसमें अपने आश्रयदाता को ऊँचा दिखाने के हेतु बदले की भावना अधिक पाई जाती है। राजपूत हिन्दू और मुसलमान के प्रश्न पर ही युद्ध नहीं करते थे अपितु उनके बलिदान में आन की भावना निहित रहती थी। राजपूतों में वीरता तो थी किन्तु उनमें अहंकार की मात्रा इतनी अधिक थी कि वह सदैव लड़ते-झगड़ते ही रहते थे। यदि उनमें राष्ट्रीय भावना होती तो भारत इतने वर्षों तक दासता की बेड़ियों में न जकड़ा रहता।

भक्तिकाल में आकर वीरता का रूप बदल गया था। वीरता का कारण अब व्यक्तिगत न रह कर सामाजिक हो गया था। उस समय वीरता दिखाने वाले पात्र लौकिक न होकर अलौकिक होते थे। तुलसी के राम इसी प्रकार के हैं :—

"निसिचर हीन करौं महि भुज उठाइ प्रन कीन।"

इससे निराश जनता में आशा का संचार होता था। रामचरितमानस में धनुष यज्ञ के अवसर का संवाद बड़ा ओजस्वी है। लक्ष्मण परशुराम जी से कहते हैं —

"यहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं,
जो तरजनि देखत मुरझाहीं।"

सूरदास ने भी अपने पदों में वीर रस का सुन्दर चित्रण किया है। एक बार महाभारत में भीष्म ने कृष्ण से शस्त्र ग्रहण कराने की प्रतिज्ञा की थी क्योंकि कृष्ण ने शस्त्र न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की थी। इसका कितना सुन्दर वर्णन किया है —

"आज जो हरिहि न शस्त्र गहाऊँ।
तो लाजौं गंगा-जननी को,
सौंतनु सुत न कहाऊँ।
सूरदास रणभूमि विजय बिन,
जियत न पीठ दिखाऊँ।"

रीतिकाल में तो कवियों की प्रवृत्ति बिल्कुल ही बदल गई थी। कवि लोग सुरा और सुन्दरी के ही गीत गाया करते थे। चारों ओर से प्रेम में सराबोर और नूपुरों की झंकार ही सुनाई दिया करती थी। लाल, भूषण की अपवाद ही ओजस्विनी कविताएँ हैं। इसका कारण औरंगजेब की कट्टर-साम्प्रदायिक नीति थी। यही हिन्दी का द्वितीय वीर उत्थानकाल था। भूषण, लाल, बनवारी, पद्माकर, सूदन आदि की रचनाओं में वीर रस के दर्शन होते हैं। इस समय कविताओं का विशेष गुण ऐतिहासिकता एवं काव्यप्रियता थी। मारकाट और शत्रुओं के भय का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण किया है —

"भीनो धक-धकत पसीनो आय देह सब,
हीनो भयो रूप न चितौत बाएँ दाहिने।"

उस समय की भाषा में विशेषता की झलक दिखाई देती है। भूषण ने भाषा में ओज लाने के लिए शब्दों की तोड़-मोड़ भी की है।

बहुत से आलोचक एवं विद्वान भूषण को तो जातीय कवि ही मानते हैं। उनके मतानुसार राष्ट्रीयता का आरम्भ तृतीय उत्थान (आधुनिक काल) में ही हुआ है। उस समय मुसलमान विदेशी शासक थे और हिन्दुओं पर अनेक प्रकार का अत्याचार कर रहे थे। भूषण ने शिवाजी के शौर्य का ही वर्णन किया है। शिवाजी उस समय हिन्दुओं तथा हिन्दू-धर्म के रक्षक थे अर्थात् वे राष्ट्र के रक्षक थे। भूषण ने शिवाजी का वर्णन करते हुए कहा है —

"हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की;
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में।"

भूषण ने हिन्दुओं की आपसी फूट का भी वर्णन किया है—

"आपस की फूट ही ते सारे हिन्दुवान टूटे।"

आधुनिक युग से पूर्व भी राष्ट्रीयता पाई जाती है। राजस्थानी कवि बाँ
दास ने देश पर अंग्रेजों के राज्य पर कहा है—

"आओ इङ्गरेज मुलक रे ऊपर,
राखो किहिक, रजपूती,मरदां हिन्दू की मुसलमान।"

इनके समकालीन सूर्यमल ने भी वीर रस का बड़ा ही सुन्दर चित्र
किया है।

आधुनिक काल के वीर काव्य पर सबसे अधिक प्रभाव अंग्रेजों का पड़ा है
मुसलमानी और यूनानी संस्कृति ने भी वह प्रभाव न डाला जो थोड़े ही समय मे
अंग्रेजी संस्कृति ने डाल दिया था। उन्होंने लार्ड मैकाले की इस नीति को अप-
नाया कि "यदि तुम किसी राष्ट्र को समाप्त करना चाहते हो तो प्रथम
उसके एतिहास को नष्ट कर दो।" (If you want to destroy
a nation, destroy his history first. The nation will be
abolished of his own accord.) इस नीति के अनुसार हिन्दू संस्कृति
नष्ट होने लगी। भारतीय लोग अपने पूर्वजों को गँवार तथा मूर्ख समझने लगे।
दूसरी ओर अंग्रेजों ने भारत का आर्थिक शोषण करना भी आरम्भ कर दिया।
तीसरे भारतीय जनता भी अब इसकी चाल को समझने लगी थी। इस समय
चार प्रकार के काव्य पाये जाते हैं।

प्रथम कोटि के काव्यों में तो प्राचीनता का गौरव पाया जाता है जैसे कि
भारत भारती में गुप्त जी कहते हैं—

हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥

कुछ देश प्रेम की भी रचनाएँ रची गईं। प्रसाद जी के नाटक, निराला जी
के पत्र आदि में यही भावना प्रधान है—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।"

तीसरी कोटि के गाँधी मूलक वीर-काव्य रचे गए। भारतीय आत्मा माखन-
लाल चतुर्वेदी तो राष्ट्रीयता के अग्रदूत हैं। इन्होंने 'त्याग' को बड़ा ही महत्त्व

दिया है।

गांधीवाद के साथ-साथ देश में प्रगतिवाद के भी दर्शन होते हैं। दिनकर जी की 'हुंकार' में तो निस्सन्देह हुंकार सुनाई देती है। पन्त जी तो जीर्ण और पुरातन को नष्ट ही करना चाहते हैं—

गा कोकिल बरसा पावक कण,
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंश जग का जड़ बन्धन।

भारतेन्दु जी ने तो हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान का नारा ही लगा दिया —

"सब मिलि बोलो एक जबान,
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।"

इस समय शब्दालंकारों की उपेक्षा करने पर भी भाषा में ओज पाया जाता है। इस युग में आधुनिक कितने ही कवि राष्ट्रीय रचनाएँ कर रहे हैं। दिनकर जी समयानुकूल रचना करने के लिए अपनी पुस्तक 'मिट्टी की ओर' में लिखते हैं—"तुम पथ पर आओगे कवि।" इस प्रकार राष्ट्रीयता का विकसित रूप आधुनिक काल में ही पाया जाता है।

प्रश्न ११—भक्तिकाल की परिस्थितियों और विशेषताओं का सामान्य परिचय दीजिए।

हिन्दी साहित्य में भक्ति-धारा यद्यपि समयानुकूल प्रवर्तित हुई तथापि मुख्य रूप से उसका आधार संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित भक्ति पद्धति है। हिन्दी साहित्य के आरम्भ के बहुत पहले देश के समाज ने ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय का रहस्य भली-भाँति समझ लिया था। पुराणों को छोड़िए श्रीमद्-भगवद्गीता जैसे प्रतिष्ठित ग्रन्थों में भक्ति का बड़ा महत्त्व दिखलाया गया है।

भगवान शंकर के मत के अनुसार जगत् मिथ्या है, ज्ञान ही एक वस्तु है, जिससे ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है तथा माया इत्यादि के मिथ्या होते हुए भी इनके ज्ञान द्वारा ही ब्रह्म रूप सत्य पदार्थ की प्राप्ति हो सकती है। मिथ्या पदार्थ के ज्ञान से सत्य पदार्थ का ज्ञान होने के अनेक उदाहरण दुनिया में प्रसिद्ध हैं।

इस मत के अनुसार ईश्वर और प्रकृति दोनों मिथ्या हैं। भक्ति के लिए स्थान नहीं है, शास्त्रों में प्रतिपादित अनेक कार्य-कलाप केवल चित्त शुद्धि के साधन मात्र हैं। यदि चित्त शुद्धि पहले ही से प्राप्त है तो कार्य-कलाप का सर्वथा बहिष्कार इस मत में भली प्रकार सिद्ध हो जाता है।

दूसरे पक्ष के अनुसार ब्रह्म निराकार और निर्गुण होते हुए भी उतना ही सगुण है जितना कि शंकर मत सगुण होते हुए भी निर्गुण; साकार होते हुए भी निराकार।

सारांश यह है कि भगवान् शंकर के मत में ब्रह्म सत्य है और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूप तीन प्रकार का जगत् उसमें अज्ञान के कारण इस प्रकार प्रतीत हो रहा है जिस प्रकार अन्धकार के कारण मनुष्य को रस्सी में साँप की प्रतीति हो जाती है अर्थात् शंकर मत में ईश्वर और उसका बताया हुआ जगत् होते हुए भी नहीं है और रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, रामानन्द तथा श्री वल्लभ जी जैसे अनेक आचार्यों के अनुसार विशिष्टाद्वैत, द्वैत और शुद्धाद्वैत मान लेने से भक्ति को पूर्ण अवकाश मिल जाता है तथा ईश्वर एक पारलौकिक पदार्थ ही नहीं इस लोक का भी विषय बन जाता है।

हिन्दी साहित्य का भक्तिकालीन भाग पढ़ने से हमें स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि निर्गुणाश्रित ज्ञान-धारा हिन्दी साहित्य में भी आई, परन्तु सगुण पक्ष ने हिन्दी साहित्य को अनुपम सौंदर्य और विशिष्टता दी। भक्तों ने अपने भक्ति-भाव के कारण कई प्रकार के सुन्दर पद कहे जो भक्ति सम्प्रदाय की अतुल मूल्यातीत सम्पत्ति बनी।

गीता के वचन के अनुसार न केवल रघुकुलतिलक श्री रामचन्द्र और वृन्दावनविहारी श्री कृष्णचन्द्र, अपितु कच्छप आदि अनेक भगवान् के अवतार जगत् के कष्ट निवारण के लिए अधर्म और अन्याय को दबाने के लिए और धर्म के पुनरुद्धार के लिए संस्कृत के आचार्यों द्वारा वर्णित हो चुके थे। भगवान के अवसर कब-कब हुए किस प्रकार हुए तथा भगवान् का मित्र मण्डल (शुद्धात्माएँ) भगवान् के मनोविनोद के लिए किस प्रकार भूमण्डल पर आता और फिर अपनी सांसारिक माया का संवरण करके पुनः गोलोक या वैकुण्ठ-

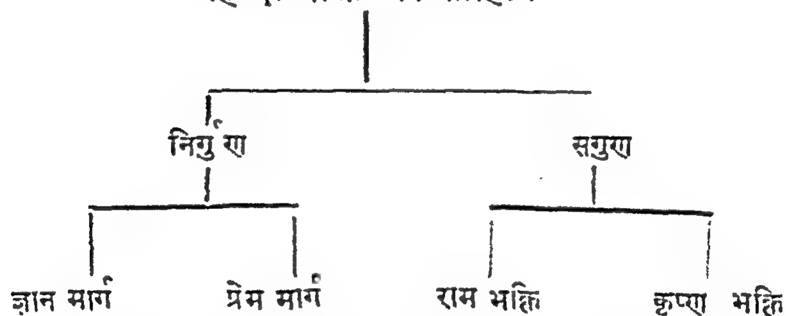
लोक में पहुँच जाता है, यह विस्तृत है जिसका विवरण देने की यहाँ आवश्यकता नहीं। परन्तु इतना कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म जिसका वर्णन नेति-नेति द्वारा उपनिषदों में मिलता है संसार पर कोई अत्याचार आदि करने पर इस पुरुषोत्तम रूप में किसी माता के घर पैदा होते हैं और अपने अवतार का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। भक्तजन इन्हीं रूपों का ध्यान, उनके कृत्यों का वर्णन तथा लीला का स्मरण करते रहते हैं। उनकी कल्पित मूर्तियों द्वारा पूजन और अर्चन के प्रकार का प्रसार बना लेते हैं और उनके द्वारा तल्लीनता से चित्त और मनः शुद्धि प्राप्त करके संसार-सागर से मुक्ति प्राप्त करते हैं। हिन्दी साहित्य को इस अवतारवाद से बहुत सहारा मिला है।

राम साहित्य और कृष्ण साहित्य जो हिन्दी साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है, इसी के फलस्वरूप हैं। अवतारवाद स्वीकार करने से ईश्वर एक बैकुण्ठ या गोलोक की ही सम्पत्ति नहीं रहता अपितु सांसारिक वस्तु बन जाता है, जिसको हम यदि आपत्ति के समय पुकारें, बुलावें या स्मरण करें तो सम्भव साकार हमारी आँखों के सामने उपस्थित हो सकता है, जिसको हम पति मानकर अपनी मानवधारा के उद्गार द्वारा रिझा सकते हैं, जिसको पुत्र मानकर अपना सर्वस्व दे सकते हैं, जिसको सखा मानकर अपने हित के लिये और आनन्द दे सकते हैं।

संस्कृत साहित्य में तीर्थों का महत्त्व भी खूब माना जाता है। जिन स्थानों का किसी-न-किसी अवतार लीला से सम्बन्ध हो जाता है वे स्थान भक्तों के हृदय के आकर्षण का केन्द्र बन जाते हैं। भक्त समझते हैं कि ऐसे स्थानों पर निवास करने से भगवद्भक्ति सुलभ है और उसके द्वारा भगवत्साक्षात्कार तथा आत्मज्ञान सरलता से हो सकता है। समाज के तीर्थ विषयक विश्वास ने भी हिन्दी साहित्य को खूब सुन्दर और सरस बनाया। लिखने का तात्पर्य यह है कि मुसलमानों के आगमन से जब हिन्दुओं की वीरता समाप्त हुई, तब समाज गौरव-मार्ग पाने न हो सका तो राजनैतिक कुण्ठा में पड़े हुए हिन्दू समाज का ध्यान निर्गुण परमात्मा की ओर चलने के और तरफ को जा नहीं सकता था।

यह हिन्दू समाज का सौभाग्य था कि उस समय निर्गुण पंथी और सन्त जो कवि भी थे देश में उत्पन्न भी हो गये जिन्होंने अनीश्वरवाद और ईश्वरवाद के बीच में भटकते हुए समाज को सम्भाल लिया जिसकी भित्ति पर आगे सगुण भक्ति का वह सुन्दर समुज्ज्वल प्रासाद निर्मित हुआ जिसका जोड़ संसार के किसी साहित्य में नहीं मिलता।

भक्तिकाल के लेखकों में कुछ मुसलमान महानुभाव भी मिलते हैं। उनके वचन भी बहुत मीठे और अनूठे हैं। इन मुसलमान लेखकों में कुछ सूफी कवि भी सम्मिलित हैं जिनकी भक्ति पद्धति का अन्तर्भाव निर्गुण भक्ति में ही हो जाता है। हिन्दी के भक्ति साहित्य को हम नीचे लिखी हुई श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—



भक्ति के निर्गुण और सगुण मार्गों में से किस मार्ग का प्रचार हिन्दी साहित्य के पहले हुआ यह बताना बहुत कठिन है। निर्गुण और सगुण दोनों पद्धतियाँ प्राचीन काल से प्रचलित थीं। मुसलमानों के समय सगुण भक्ति की परंपरा कुछ दब-सी गई थी। इसके अनेक कारण थे। यद्यपि संस्कृत के विद्वान् आचार्य शास्त्रीय पद्धति से धर्म का निरूपण कर रहे थे, परन्तु फिर भी नवीं शताब्दी से लेकर वीर-गाथा काल समाप्ति तक वाममार्गी के बौद्धों के कारण, नागपंथी साधुओं के कारण, मुसलमानों के एकेश्वरवाद के कारण सगुणोपासना, मूर्ति-पूजा, तीर्थों का महत्त्व बहुत कम हो गया था। वस्तुतः धर्म के सनातन रूप में कुछ त्रुटि आ गई थी। धर्म जो अन्तरात्मा की भूख मिटाने का पदार्थ है, वाह्याडम्बर तथा कपोलकल्पित बातों से इतना भर गया था कि समाज की

श्रद्धा न याज्ञिक कर्मों के विधान में थी, न समाज ईश्वर के मानने में ही कोई तत्त्व देखता था और न समाज मन्दिरों में ही कोई विशेषता देख पाता था। हिन्दुओं के सामने मुसलमानों के द्वारा उनकी देव मूर्तियाँ भग्न की जा रही थीं। स्त्रियाँ अपमानित होती थीं। सब प्रकार का अत्याचार देश में फैल रहा था। तीर्थों की शुद्धता भ्रष्ट की जा रही थी। पर भगवान् किसी ओर से आते दिखाई न देते थे। वह समय या तो अनीश्वरवाद के लिये उपयुक्त था या निर्गुण उपासना के लिए। हिन्दी साहित्य के इतिहासज्ञों ने निर्गुण भक्ति की ही पहले चर्चा की है। बात भी ठीक है। बाबर जैसे समदृष्टा बादशाहों के राज्यकाल में निर्गुण भक्ति के विकास के लिए पर्याप्त अवकाश मिला। निर्गुण के अन्दर प्रेममार्गी शाखा भी जो सूफी कवियों की देन है, आती है। यह कहना कठिन है कि यदि इस समय संत कवियों का प्रादुर्भाव न होता तो धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू समाज की क्या अवस्था होती। धर्म के मार्ग से हिन्दू समाज को विचलित करने वाली अनेक शक्तियाँ उस समय देश में काम कर रही थीं।

प्रश्न १२—बतलाइए कि भक्तिकाल को हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग कहना कहाँ तक समीचीन है ?

यह निर्विवाद सत्य है कि भक्तिकाल हिन्दी साहित्य में एक जगमगाता हुआ स्वर्णयुग है। इस युग में अनेक भक्त कवियों की वाणी तथा साहित्य की सरिता अबाध रूप में बही है। डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में **"जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, जैसे सुप्रसिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्तःकरणों से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी उसे साहित्य में सामान्यतः भक्ति युग कहते हैं। निश्चय ही यह हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग था।"**

साहित्य को हम निश्चित परिधि में नहीं बाँध सकते। साहित्य अबाध रूप से कवि के हृदय में फूटता है और जन-जन में शक्ति तथा प्रेरणा देता हुआ हृदय की गहराइयों में उतर जाता है। साहित्य जातीयता, राष्ट्रीयता तथा एक-देशीयता से दूर रहकर अपना सन्देश सर्वत्र फैलाता है। वह किसी एक ही

वाद की झाँकी में बँधकर नहीं चलता, बल्कि जीवन के प्रत्येक स्थल का स्पर्श करते हुए सम्पूर्ण जीवन को पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करता है। यह उस सुगन्धित वाटिका के समान होता है जिसका स्पर्श करके वायु सर्वत्र सुगन्धि बिखेरता है। इसका अर्थ यह नहीं कि साहित्य में विश्व चेतना ही रहती है अपितु सार्वभौमिकता के साथ अपने देश की भावनाओं से भी पूरित रहता है। साहित्य में देश, काल तथा परिस्थिति का प्रतिबिम्ब होता है। जनता की भावनाएँ साहित्य में लक्षित होती हैं। सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की सुन्दर त्रिवेणी कलकल नाद करती हुई साहित्य में बहती हैं।

स्वर्णयुग का साहित्य अपने पूर्व तथा बाद के साहित्य से भी बढ़कर होता है। हिन्दी साहित्य के चारों कालों पर दृष्टिपात करने से भक्तिकाल की विशिष्टता ज्ञात हो जाती है। साहित्य के आदिकाल का प्रारम्भ युद्धों के भयानक नाद तथा तलवार की झनझनाहटों के मध्य में हुआ था। उस समय के साहित्य में वीर और शृंगार दो ही रसों की धारा बहती पाई जाती है। जीवन की अन्य भावनाओं को उसमें स्थान नहीं मिलता था। उस साहित्य में सार्वभौमिक भावनाएँ न थीं और न ही जातीय चित्तवृत्तियाँ। उसमें केवल वीरता की ही भावनाएँ मिलती थीं। उनकी तड़कीली भाषा जीवन की रगरग में शक्ति का संचार करती थी। कहीं-कहीं वीरता के वर्णन में अतिशयोक्ति भी पाई जाती है।

वीरगाथाकाल के पश्चात् भक्तिकाल का पदार्पण होता है। वीरता के स्थान पर सूर, तुलसी आदि की भावमयी एवं भक्तिमयी भावनाएँ उमड़ चलीं। इस काल में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण साहित्य रचा गया।

भक्तिकाल के शान्त एवं वैराग्यपूर्ण वातावरण के पश्चात् हिन्दी साहित्य में कविता कामिनी सुरा की मादकता में झूमती हुई अपने अल्हड़ यौवन के साथ आई। मुक्ति के स्थान पर रति की ही प्रशंसा होने लगी—

"चमक तमक हाँसी, ससक मसक झपट लपटानि।
ए जिहि रति, सो रति मुकति और मुकति अति हानि।"

राधा और कृष्ण आराध्य न रहकर केवल साधारण से नायक और नायिका

बनकर रह गए। कविता में ऊपरी तड़क-भड़क तो पाई जाती है, किन्तु अतः स्वरूप लुप्त हो गया है। सुरा और सुन्दरी दो ही कविता के आभूषण थे। भूषण आदि कुछ वीर रस के कवियों की कविताएँ अवश्य ही इसमें भिन्न कोटि की थीं।

गद्य के विस्तृत रूप, विश्वजनीन भावनाओं तथा अभिव्यक्ति की अनेकरूपता के कारण आधुनिक काल स्वर्णयुग कहलाने योग्य क्षमता रखता है। किन्तु भक्तिकाल की अपनी कुछ और ही विशिष्टताएँ हैं जिनके फलस्वरूप वह तीनों कालों की तुलना में प्रमुख हो ठहरता है। आज की कविताओं में अनुभूति की तीव्रता नहीं है। महादेवी, बच्चन, पंत, प्रसाद आदि के उच्चकोटि के साहित्यिक गीत होने पर भी उतने लोकप्रिय न हो पाये जितने कि मीरा, सूर और तुलसी के गीत जन-जन जिह्वा पर आये। तुलसी और सूर ने उस साहित्य का सृजन किया जो धनियों की अट्टालिकाओं में नृत्य करता है तथा निर्धनों के झोंपड़ों को आलोकित करता है। आधुनिक साहित्य हृदय और मन को तो सन्तुष्ट करता है, परन्तु आत्मा की प्यास को नहीं बुझा पाता। भक्तिकाल की रचनाओं में हम तीनों ही विशेषताएँ पाते हैं।

यदि हम साहित्य में से भक्तिकाल के कवियों को निकाल दें तो हमारा शेष साहित्य बहुत ही नगण्य रह जायेगा। अंग्रेज कहते हैं कि "यदि हमारे सम्मुख एक ओर शेक्सपियर (Shakespeare) रखा जाय और दूसरी ओर विश्व का साम्राज्य तो हम पहले शेक्सपियर को ही चुनेंगे।" किन्तु हमारे यहाँ सूर, तुलसी आदि न जाने कितने शेक्सपियर इस काल में हुए हैं। इस पर रामरतन भटनागर लिखते हैं:—

"लगभग तीन सौ वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के आधार पर ही हिन्दी साहित्य उन्नतमुखी हो सकता है। सूर, तुलसी, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर—इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कण्ठमाल हैं।"

यह मत वास्तव में पूर्णतः सत्य है। सूर और तुलसी तो भक्तिकाल के दो जगमगाते हुए रत्न हैं। संस्कृत साहित्य में कृष्ण पर पर्याप्त मात्रा में लिखा

जा चुका था। महाभारत में कृष्ण राजनीति विशारद, भागवत में असुर संहारक के रूप में सामने आते हैं। परन्तु सूर के कृष्ण तो सूर के ही कृष्ण थे। उनका स्वरूप तो निराला ही था। वे माखनचोर, मनमोहन तथा रसिक-शिरोमणि सब ही कुछ तो हैं। सूर ने बालकृष्ण का चित्रण बड़े ही सुन्दर रूप में किया है। वात्सल्य रस का इतना सुन्दर चित्रण अन्य कोई कवि कर नहीं पाया। अपने नेत्रों की ज्योति से रहित आन्तरिक ज्योति में रहकर उन्होंने जिस कृष्ण के दर्शन किए वह साधारण कवियों तथा भक्तों के कृष्ण से भिन्न थे। बाललीलाओं का जितना सुन्दर, स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक चित्रण सूर ने किया है उस स्तर पर अन्य कोई कवि पहुँच ही नहीं पाया। पहुँचता भी कैसे क्योंकि—

"तत्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब झूठी॥"

संयोग और वियोग शृंगार का चित्रण जैसा सूर ने किया है वह हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। भ्रमरगीत में तो आकर सूर ने कलम तोड़ दी है। जिस तर्क तथा हृदयमोहिनी भावुकता द्वारा गोपियाँ उद्धव को परास्त करती हैं उसके सामने उद्धव की सारी ज्ञान-सरिता बह जाती है और वह प्रकाण्ड पण्डित अनपढ़ गोपियों के द्वारा लुट जाता है। वे गोपियाँ जो सारे दिन घर के ही काम में अपना समय बिता देती हैं प्रेम की कितनी सुन्दर व्याख्या करती हैं। उन भोली-भाली गोपांगनाओं के इस तर्क से आगे तो उद्धव सब कुछ ही भूल जाते हैं—

"ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस॥"

गोपियों के साथ दूसरी कठिनता यह हो गई कि—

"मन में माखनचोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नाहीं ऊधो, तिरछे ह्वै जो अड़े॥"

अब बेचारी भोली गोपिकाएँ किस प्रकार कृष्ण को भुलाकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना करें। तानसेन ने यदि यह कहा कि—

"किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद सुन्यौ, तन मन धुनत सरीर।"

तो कोई अत्युक्ति नहीं है।

सूर के आराध्य देव यदि कृष्ण थे तो तुलसी के इष्टदेव राम थे। सूर के समान तुलसी ने भी अपने के पूर्वसाहित्य के राम से भिन्न राम का चित्रण किया है। तुलसी ने एक ओर तो अपने राम को शक्तिशाली तथा सौंदर्य में पूर्ण किया तथा दूसरी ओर वाल्मीकि तथा कालिदास के कवित्व और आध्यात्मिकता का सुन्दर संयोग कराया। तुलसी ने रामभक्ति की वह धवल सलिता प्रवाहित की कि जिसके सम्मुख रामचरितमानस सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त कर सका है। बाबू शिवनन्दन सहाय रामचरितमानस के विषय में लिखते हैं कि "लाखों जन उसे अपना जीवन सर्वस्व समझते हैं। करोड़ों इसी का आश्रय पाकर कतिपय कुत्सित कर्मों से बचते हैं। कितने इसके पाठ से विरक्त साधु बन जाते हैं एव कितने पंडित और कितने ज्ञानी कहलाने लगते हैं। सामाजिक व्यवहार, नीति, राजनीति आदि नीतियों का शास्त्र कहलाने का यह ग्रन्थ अधिकारी है।" उनके रामराज्य का आदर्श सारे विश्व के लिए अनुकरणीय है।

तुलसी की विनय-पत्रिका का तो अपना अलग ही स्थान है। हृदय की दीनता के भावों को इतने सुन्दर ढंग से चित्रित किया है कि वह पाठकों के हृदय को भी स्पर्श किये बिना नहीं रहती। तुलसीदास जी राम पर इतना लिख गये हैं कि अब उसके पश्चात् अन्य कवियों के लिखने के लिए कुछ शेष ही नहीं रहा।

कबीर ने भी जो कुछ अपनी अटपटी भाषा में कहा वह अद्वितीय है। वर्तमान समय में जाति-भेद मिटाने के लिए जो कुछ गाँधीजी ने किया वही अपने समय में कबीर भी कर चुके थे। डा० रामकुमार वर्मा इस विषय में लिखते हैं—

"कबीर ने अपनी प्रखर भाषा और तीखी भाव-व्यंजना से जिस काव्य का सृजन किया वह साहित्यिक मर्यादा का अति[illegible] ही कर गया हो, किन्तु उसके द्वारा साहित्य में [illegible]

और अभाव देखते हैं। मुक्ति की अवस्था यही अवस्था है। जिसको संस्कृत के आचार्यों ने स्वीकार किया है। इनके अनुसार भी भक्ति "एकमेव ह्वै मिलि रह्यौ" मुक्ति का रूप है अर्थात् परमात्मा की भक्ति से नटनी माया का नाश होता है और उसके अनन्तर परमात्मा जो सब जगह उपस्थित है परन्तु घट अर्थात् हृदय में जिसका अनुभव अर्थात् ध्यान किया जाता है, प्रकट हो जाता है और फिर साधक अपने आपको समस्त जगत् को जलथल सबको ईश्वर का रूप ही पाता है।

इन कवियों की कविताओं में सत्संग पर बहुत जोर दिया गया है। सत्गुरु की खोज का बहुत अधिक आग्रह किया गया है। ये गुरु को भी गुरु कहते हैं और ईश्वर को भी गुरु मानते हैं अर्थात् इन दो अर्थों में गुरु शब्द का प्रयोग करते हैं।

ये जात-पाँत का खंडन करते हैं। तीर्थों की विशेषता इन्हें स्वीकार नहीं। मूर्तिपूजा के ये शत्रु थे। अवतारवाद और धर्म के बाह्याडम्बर का तिरस्कार करते थे। धर्म का ऐसा निरूपण करते थे कि जिसको हिन्दू और मुसलमान दोनों स्वीकार कर सकें। इनका विचार था कि ध्यान और योग भी ईश्वर के मिलन के साधन हैं।

समाज सेवा, चित्त शुद्धि इनके धर्म के अंग थे। गोमुखी में हाथ डालकर जप करना, मन शुद्ध न करते हुए तीर्थों में जाना, हृदय में कपट होते हुए माथे पर तिलक लगाना आदि का पूर्ण बल से खण्डन करते थे।

यद्यपि सन्त कवियों का राम निराकार और सर्वव्यापी है तथापि उसको प्राप्ति के लिए दाम्पत्य सम्बन्ध की अथवा सेव्य-सेवक-भाव की कल्पना असम्बद्ध और अशुद्ध नहीं क्योंकि उपाधि विशिष्ट ब्रह्म के ज्ञान द्वारा ही उपाधिरहित ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। यह इनका विश्वास था। यदि ब्रह्म को समझने के लिए भी उपाधिविशिष्ट न मानें तो न उसका वर्णन हो सकता है और न उसका चिन्तन हो सकता है।

कबीर, धर्मदास, नानक, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास तथा रैदास इस शाखा के प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

कबीर—आज तक की गवेषणाओं के आधार पर कबीर का जन्म संवत्

१४५६ और मृत्यु संवत् १५७५ ठहरता है। जनश्रुति है कि ये एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए। उस ब्राह्मणी ने लोकापवाद के भय से इन्हें लहरतारा नामक तालाब के किनारे फेंक दिया जहाँ से नीरू नीमा नामक जुलाहे दम्पति ने इनको उठा लिया और अपनी कोई सन्तान न होने के कारण पुत्रवत् इनका पालन किया। बड़े होकर कबीर भी जुलाहे का काम करने लगे।

रामानन्द जी उस समय के प्रसिद्ध महात्मा थे। उन्हीं को कबीर ने गुरु रूप में स्वीकार किया। कुछ लोगों का कहना है कि कबीर शेख तकी के शिष्य थे किन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। कबीर की रचनाओं को पढ़ने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं कबीर ही शेख तकी को उपदेश दे रहे हैं।

कबीर बिल्कुल अनपढ़ थे परन्तु थे बहुश्रुत। उन्होंने विद्यार्थी बनकर शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया था अपितु सन्त महात्माओं के सत्संग से उन्होंने वेदान्त उपनिषद् एवं पुराणों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। नाथसाधुओं से मिलते-जुलते रहने के कारण इन्हें योग का भी अच्छा ज्ञान हो गया था। इसीलिए कबीर की रचनाओं में इड़ा, पिंगला और षट्चक्र आदि शब्द अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि कबीर ने स्थान-स्थान पर ज्ञानियों एवं नाथपंथियों के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया तथापि वे नाथपंथी साधुओं एवं कोरे ज्ञानियों से पृथक थे। उनके प्रतिकूल इन्होंने भक्ति-मार्ग का भी आश्रय लिया था। कबीरदास एक उच्चकोटि के भक्त थे। परन्तु अन्य भक्तों के समान तिलक, छापा आदि बाह्य आडम्बरों से घृणा करते थे। ये तो सरलता के पक्षपाती थे।

धर्मदास—ये कबीर के समसामयिक थे। मूर्तिपूजा और तीर्थाटन के पक्षपाती भी थे। इतिहासज्ञों का कथन है कि महात्मा कबीर के उपदेश सुनकर इन्होंने निर्गुण पन्थ स्वीकार किया। महात्मा कबीर के देहावसान के अनन्तर ये उनकी गद्दी पर बैठे। ये जाति के बनिये थे और सत्संग से इनको प्रेम था। शिष्य होने के अनन्तर अपनी सारी सम्पत्ति बाँट दी थी। ये कबीर खण्डन-मण्डन में नहीं पड़े और सत्संग द्वारा जो ज्ञान इन्हें प्र सरल भाषा में प्रकट किया हुआ मिलता है।

और अभाव देखते हैं। मुक्ति की अवस्था यही अवस्था है। जिसको संस्कृत के आचार्यों ने स्वीकार किया है। इनके अनुसार भी भक्ति "एकमेव है मिलि रह्यौ" मुक्ति का रूप है अर्थात् परमात्मा की भक्ति से नटनी माया का नाश होता है और उसके अनन्तर परमात्मा जो सब जगह उपस्थित है परन्तु घट अर्थात् हृदय में जिसका अनुभव अर्थात् ध्यान किया जाता है, प्रकट हो जाता है और फिर साधक अपने आपको समस्त जगत् को जलथल सबको ईश्वर का रूप ही पाता है।

इन कवियों की कविताओं में सत्संग पर बहुत जोर दिया गया है। सद्गुरु की खोज का बहुत अधिक आग्रह किया गया है। ये गुरु को भी गुरु कहते हैं और ईश्वर को भी गुरु मानते हैं अर्थात् इन दो अर्थों में गुरु शब्द का प्रयोग करते हैं।

ये जात-पाँत का खंडन करते हैं। तीर्थों की विशेषता इन्हें स्वीकार नहीं। मूर्तिपूजा के ये शत्रु थे। अवतारवाद और धर्म के वाह्याडम्बर का तिरस्कार करते थे। धर्म का ऐसा निरूपण करते थे कि जिसको हिन्दू और मुसलमान दोनों स्वीकार कर सकें। इनका विचार था कि ध्यान और योग भी ईश्वर के मिलन के साधन हैं।

समाज सेवा, चित्त शुद्धि इनके धर्म के अंग थे। गोमुखी में हाथ डालकर जप करना, मन शुद्ध न करते हुए तीर्थों में जाना, हृदय में कपट होते हुए माथे पर तिलक लगाना आदि का पूर्ण बल से खण्डन करते थे।

यद्यपि सन्त कवियों का राम निराकार और सर्वव्यापी है तथापि उसकी प्राप्ति के लिए दाम्पत्य सम्बन्ध की अथवा सेव्य-सेवक-भाव की कल्पना असम्बद्ध और अशुद्ध नहीं क्योंकि उपाधि विशिष्ट ब्रह्म के ज्ञान द्वारा ही उपाधिरहित ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। यह इनका विश्वास था। यदि ब्रह्म को समझने के लिए भी उपाधिविशिष्ट न मानें तो न उसका वर्णन हो सकता है और न उसका चिन्तन हो सकता है।

कबीर, धर्मदास, नानक, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास तथा रैदास इस शाखा के प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

कबीर—आज तक की गवेषणाओं के आधार पर कबीर का जन्म संवत्

१४५६ और मृत्यु संवत् १५७५ ठहरता है। जनश्रुति है कि ये एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए। उस ब्राह्मणी ने लोकापवाद के भय से इन्हें लहरतारा नामक तालाब के किनारे फेंक दिया जहाँ से नीरू नीमा नामक जुलाहे दम्पति ने इनको उठा लिया और अपनी कोई सन्तान न होने के कारण पुत्रवत् इनका पालन किया। बड़े होकर कबीर भी जुलाहे का काम करने लगे।

रामानन्द जी उस समय के प्रसिद्ध महात्मा थे। उन्हीं को कबीर ने गुरु रूप में स्वीकार किया। कुछ लोगों का कहना है कि कबीर शेख तकी के शिष्य थे किन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। कबीर की रचनाओं को पढ़ने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं कबीर ही शेख तकी को उपदेश दे रहे हैं।

कबीर बिल्कुल अनपढ़ थे परन्तु थे बहुश्रुत। उन्होंने विद्यार्थी बनकर शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया था अपितु सन्त महात्माओं के सत्संग से उन्होंने वेदान्त उपनिषद एवं पुराणों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। नाथसाधुओं से मिलते-जुलते रहने के कारण इन्हें योग का भी अच्छा ज्ञान हो गया था। इसीलिए कबीर की रचनाओं में इड़ा, पिंगला और षट्चक्र आदि शब्द अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि कबीर ने स्थान-स्थान पर ज्ञानियों एवं नाथपंथियों के परिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया तथापि वे नाथपंथी साधुओं एवं कोरे ज्ञानियों से पृथक थे। उनके प्रतिकूल इन्होंने भक्ति-मार्ग का भी आश्रय लिया था। कबीरदास एक उच्चकोटि के भक्त थे। परन्तु अन्य भक्तों के समान तिलक, छापा आदि बाह्य आडम्बरों से घृणा करते थे। ये तो सरलता के पक्षपाती थे।

धर्मदास—ये कबीर के समसामयिक थे। मूर्तिपूजा और तीर्थाटन के पक्षपाती भी थे। इतिहासज्ञों का कथन है कि महात्मा कबीर के उपदेश सुनकर इन्होंने निर्गुण पन्थ स्वीकार किया। महात्मा कबीर के देहावसान के अनन्तर ये उनकी गद्दी पर बैठे। ये जाति के बनिये थे और सत्संग से इनको प्रेम था। कबीर का शिष्य होने के अनन्तर अपनी सारी सम्पत्ति बाँट दी थी। ये कबीर के समान खण्डन-मण्डन में नहीं पड़े और सत्संग द्वारा जो ज्ञान इन्हें प्राप्त हुआ था वह बड़ी सरल भाषा में प्रकट किया हुआ मिलता है।

गुरु नानक—सिख सम्प्रदाय के प्रवर्तक गुरु नानक देव का जन्म संवत् १५२६ में जिला लाहौर के तिलवण्डी ग्राम में हुआ। ये जाति के खत्री थे। संवत् १५५४ में सुलक्षणीदेवी से इनका विवाह हुआ जिससे इनको दो पुत्र रत्न प्राप्त हुए श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द। श्रीचन्द उदासी सम्प्रदाय के संस्थापक माने जाते हैं। सांसारिक जीवन से खिन्न होकर गुरु नानक ने घर छोड़ दिया। ये भी एकेश्वरवाद के मानने वाले थे। इन पर भी कबीर मत का बहुत प्रभाव पड़ा और इसी धर्म का प्रचार गुरु नानक ने पंजाब में प्रारम्भ कर दिया। कबीर के समान इनके पास भी अधिक पुस्तक-विद्या न थी। जो कुछ इन्होंने लिखा वह सत्संग और अनुभव का परिणाम है। इनके भजन पंजाबी और हिन्दी दो भाषाओं में मिलते हैं हिन्दी के भी दो रूप हैं—कहीं-कहीं ब्रज और पंजाबी मिली खड़ी बोली।

दादू—इनका जन्म संवत् १६०१ में गुजरात जिले के अहमदाबाद गाँव में हुआ। मूलरूप से दादू के धर्म सिद्धान्तों का आधार कबीर के सिद्धान्त ही थे फिर भी इनका पन्थ निर्गुण शाखा के अन्दर दादू पन्थ नाम से प्रसिद्ध है। कोई इतिहासज्ञ इनको ब्राह्मण कहता है और कोई मोची या धुनिया मानता है। अनुमान ऐसा है कि ये नीची जाति के थे। जयपुर से २०-२५ कोस की दूरी पर भराने की पहाड़ी पर इन्होंने सं० १६६० में शरीर छोड़ा। इनके अनुयायी तिलक और कंठी में विश्वास नहीं करते। माला हाथ में अवश्य रखते हैं और सत्यनाम कह कर एक दूसरे को सम्बोधित करते हैं। इनके वचन दोहों के रूप में और गीतों के रूप में मिलते हैं। इनकी हिन्दी में राजस्थानी का और कुछ गुजराती पंजाबी का मेल भी मिलता है। ईश्वर की व्यापकता, जात-पाँत का खण्डन, संसार की नश्वरता इनकी कविता में मिलती है।

सुन्दरदास—निर्गुण पन्थ के कवियों में एक सुन्दरदास जी ही संस्कृत के बड़े विशिष्ट पंडित थे। इनका जन्म रियासत जयपुर में दौसा नगर में संवत् १६५३ में हुआ। कहते हैं कि एक बार दादू दौसा गये। उस समय सुन्दरदास जी की आयु छः वर्ष की थी। उसी समय ये दादू के शिष्य बन गये थे। नाम के अनुसार ही ये बड़े सुन्दर पुरुष थे। कविता भी बड़ी सुन्दर किया करते थे। ३० वर्ष की

अवस्था तक काशी में रह संस्कृत साहित्य तथा वेदान्त का खूब अध्ययन किया जिसका प्रभाव इनकी कविता में दिखाई देता है। फारसी के भी पंडित थे। इनके ग्रंथों में सुन्दर-विलास बहुत प्रसिद्ध है जिसमें अनुप्रास, यमकादि सभी शब्दालंकार मिलते हैं।

मलूकदास—इनका जन्म संवत् १६३० में और मृत्यु १७३० के लगभग मानते हैं। ये इलाहाबाद जिले के निवासी थे तथा औरंगजेब के समसामयिक थे। ये भी संस्कृत के बड़े अच्छे पंडित थे। छन्दशास्त्र में निपुण थे और बड़ी प्राञ्जल भाषा लिखते थे। इनके उपदेश भी जो पुस्तकों के रूप में मिलते हैं, बड़े वैराग्यपूर्ण हैं। "अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम" यह दोहा इन्हीं का है।

रैदास—इतिहासज्ञों का मत है कि रामानन्द जी के बारह शिष्यों में से एक रैदास थे। इन्होंने अपने आपको चमार बताया है। यदि कबीर भी रामानन्द के शिष्य थे तो रैदास रामानन्द के पिछले शिष्यों में से थे। इनके वचनों से यह भी सिद्ध होता है कि ये काशी के रहने वाले थे। इनका ईश्वर भी कबीर के समान निर्गुण-सगुण दोनों है। फर्रुखाबाद और मिर्जापुर में साधो सम्प्रदाय रैदास का पंथ ही माना जाता है।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से निर्गुण पंथी संत कवियों के नाम मिलते हैं, जैसे—भीखा, पलटू, अक्षरअनन्य आदि। इनके वचन पढ़कर हृदय में शांति आती है और सन्तोष उत्पन्न होता है।

प्रश्न १४. ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीर पर एक लेख लिखिए।

आज तक की गवेषणाओं के आधार पर कबीर का जन्म सं० १४५६ और मृत्यु सं० १५७५ ठहरता है। जनश्रुति है कि ये एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न हुए। ब्राह्मणी ने लोकापवाद के भय से इन्हें लहरतारा नामक तालाब के किनारे फेंक दिया जहाँ से नीरू नीमा नामक जुलाहे दम्पती ने इनको उठा लिया और अपनी कोई संतान न होने के कारण पुत्रवत् इनका पालन किया। बड़े होकर कबीर भी जुलाहे का काम करने लगे।

रामानन्द जी उस समय एक प्रसिद्ध महात्मा थे। उन्हीं को कबीर ने गुरु रूप

में स्वीकार किया। कुछ लोगों का कहना है कि कबीर शेख तकी के शिष्य थे किन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। कबीर की रचनाओं को पढ़ने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं कबीर ही शेख तकी को उपदेश दे रहे हैं।

कबीर बिल्कुल अनपढ़ थे, परन्तु थे बहुश्रुत। इन्होंने विद्यार्थी बनकर शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया था अपितु संत महात्माओं के सत्संग से इन्होंने वेदान्त, उपनिषद् एवं पुराणों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। नाथ साधुओं से मिलते-जुलते रहने के कारण इन्हें योग का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त हो गया था। इसीलिए कबीर की रचनाओं में इड़ा, पिंगला और षट्चक्र आदि शब्द अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं। यद्यपि कबीर ने स्थान-स्थान पर ज्ञानियों के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है तथापि ये नाथ पंथी साधुओं एवं कोरे ज्ञानियों से पृथक् थे। उनके प्रतिकूल इन्होंने भक्ति मार्ग का भी आश्रय लिया था। कबीरदास एक उच्चकोटि के भक्त थे। परन्तु अन्य भक्तों के समान तिलक, छापा आदि बाह्य आडम्बरों से घृणा करते थे। ये तो सरल जीवन के पक्षपाती थे।

कबीर का काव्य एक हृदय के उद्गार हैं। चाहे उनकी भाषा सुन्दर न हो, चाहे उनके छन्द पिंगल शास्त्र के अनुसार ठीक न हों, परन्तु इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि इनका काव्य एक सच्चे भक्त की वाणी है, एक निर्भीक मनुष्य का कथन है। हम यह बात मान सकते हैं कि इनकी तथा-कथित 'सधुक्कड़ी' भाषा में ब्रज एवं अवधी के अतिरिक्त अरबी, फारसी तथा अन्यान्य भाषाओं के भी शब्द मिलते हैं। परन्तु यह उनकी कविता का भूषण है, दूषण नहीं। वास्तव में अपने मौलिक एवं हृदय से उठे हुए भावों को व्यक्त करने के लिए कबीरदास ने शब्द विशेष खोजने का प्रयत्न ही नहीं किया। यदि ये ऐसा करते तो शायद हमें इतनी प्रचुर मात्रा में तथा इतनी उच्चकोटि काव्य न दे सकते। इनकी समस्त कविता मुक्तक है। निर्गुण काव्य धारा की सभी विशेषताएँ इनकी कविता में मिलती हैं। इन्होंने उलटबांसियों का बड़ा प्रयोग किया है। विद्वान् इन उलटबांसियों को इनके रहस्यवाद का अंग कहते हैं।

कबीर की रचनाओं का अध्ययन करने पर बहुत से स्थल ऐसे आते हैं जो कि अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। इसका कारण है इनका रहस्यवाद। रहस्यवाद जीवात्मा के उस प्रयत्न के प्रकाशन का नाम है जबकि वह सत्पुरुष से चिर-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्सुक होती है। इतना ही नहीं बल्कि जब वह उसके निकट पहुँच जाती है तो दोनों में कोई अन्तर अथवा व्यवधान नहीं रहता अर्थात् दोनों एकाकार हो जाते हैं। इस मिलन का स्पष्ट वर्णन नहीं हो सकता। कबीर जी कहते हैं—

"अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाय।
गूंगा केरी सरकरा बैठा ही मुस्काय।"

कबीर के रहस्यवाद में प्रेम की प्रधानता है। परमात्मा के प्रति इनका प्रेम पति-पत्नी के रूप में ही अपनी पूर्णता को पहुँचता है। कबीर जी ने अपने को 'राम की बहुरिया' मानकर ईश्वर से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित किया है। इस प्रकार के प्रेम की एक विशेषता है कि जब तक जीवात्मा रूपी पत्नी परमात्मा रूपी पति को प्राप्त नहीं करती तब तक वह उसके वियोग में तड़पती रहती है। कबीर कहते हैं—

"वे दिन कब आयेंगे भाई।
जा कारण हम देह धरी है मिलवौं अंग लगाई॥"

परन्तु यह प्रेम मार्ग कोई सरल, सुगम मार्ग नहीं है——

"यह तो मारग का प्रेम खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुई धरै तब आवै इहि माहि॥"

जायसी ने भी एक स्थान पर इस प्रेममार्ग की कठिनता का वर्णन किया है—

"जौ लगि आप हेराव न कोई। तो लगि हेरत पाव न सोई।"

इस मार्ग पर अग्रसर होने वाले व्यक्ति के लिए कबीर ने गुरु के महत्त्व को भी भली भाँति माना है। बिना गुरु के तो उस अनन्त सत्ता का आभास पाना भी दुष्कर है। कबीर कहते हैं—

"वस्तु कहीं ढूँढ़े कहीं केहि विधि आवे हाथ।
कह कबीर तब पाइये जब भेदी लीजै साथ॥"

कबीर के धर्म सिद्धान्तों का संक्षेप में निरूपण करते हुए यहाँ इतना ही लिखा जा सकता है कि इनकी कविता में माया, ब्रह्म, जीव आदि सबका वर्णन मिलता है। उस पर वेदान्त की छाप होते हुए भी वैष्णव मत का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। हिन्दी साहित्य के निर्गुण कवियों में कबीर का स्थान बहुत ऊँचा है। ऊपर कहा जा चुका है कि अद्वैतवादियों का ब्रह्म उपाधि शून्य तथा अनन्त ज्ञान स्वरूप है जो ज्ञान नित्य तथा चैतन्य रूप है। उपास्य उपासक भाव सम्बन्ध की कल्पना असम्भव है परन्तु कबीर ने अपने धर्म सिद्धान्तों में निर्गुण ब्रह्म मानते हुए भी उसमें गुणों की कल्पना और आरोप किया है। उस ब्रह्म को अद्वैतवादियों के समान कहीं निर्विकार निरंजन तथा उपाधिशून्य माना और कहीं उसमें गुण का सम्बन्ध कर दिया है। अपना धर्म निरूपण करते हुए कहीं उसमें योग की छाया ले आए। इस कबीर मत को अद्वैतवाद, द्वैतवाद, हठयोग तथा प्रेम मार्ग की खिचड़ी तो नहीं कहते परन्तु इतना मानने में संकोच भी नहीं होता कि महात्मा कबीर समन्वय की भावना लेकर चले थे और धर्म के क्षेत्र में जहाँ तक धर्म का सम्बन्ध हो सका वह उन्होंने किया। समयानुकूल तथा इष्ट धर्म मार्ग यही था। महात्मा कबीर शुद्ध हृदय के सरल स्वभाव के सन्त थे। हिन्दू मुसलमानों का मेल उनके जीवन का लक्ष्य था। उनके लिखने का मार्ग कुछ उद्दण्डता को लिए हुए अवश्य है, परन्तु सन्त हृदय झूठे भेद-भाव से चिढ़ रहा था और उनकी कविता में जो फटकार और धिक्कार मिलती है वह उसी का फल है।

इनकी वाणी में दृढ़ता और सत्यता दोनों मिलती है और हिन्दू-मुस्लिम दोनों-धर्मों के बाह्य अनिष्ट रूप की निन्दा और चित्त शुद्धि, सद्भावना की ओर झुकाव साफ दिखाई देता है। इनके वचन साखी, रमैनी और सबदी इन तीनों रूपों में मिलते हैं।

कबीर ने चार सौ से अधिक साखियाँ लिखी हैं। देखने में तो साखी छोटी-सी है पर है ज्ञान का भंडार—

"माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवां तो चहुँ दिस फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं ॥"

प्रश्न १५. सूफी काव्य को जन्म देने वाली परिस्थितियों को स्पष्ट कीजिए।

राजनैतिक परिस्थितियाँ—वीरगाथाकाल के समाप्त होने के पहले ही साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति प्रारम्भ हो गयी थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने जनता के साथ साहित्य को भी अस्थिर कर दिया था। मुसलमानों की शक्ति और धर्म के विस्तार ने साहित्य का दृष्टिकोण बदल दिया था तथा हिन्दी साहित्य की धारा अपने पुराने उद्दाम और ओजस्वी वीरगाथात्मक रूप को छोड़कर भक्ति की प्रशान्त ललित कविता के रूप में प्रवाहित होने लगी थी। चारणों की रचनायें अधिकतर राजस्थान तक सीमित थीं। मध्य देश में मुसलमानों के अदम्य उत्साह और प्रबल वेग ने कई राजपूती रियासतों को समाप्त कर दिया था। अतः वहाँ चारण कवियों का कोई आश्रयदाता नहीं रह पाया था। हिन्दुओं के पास न शारीरिक बल रह गया था और न ही आत्मिक बल। मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रभुत्व ने हिन्दू राजाओं को जर्जरित कर दिया था। वे स्वयं में ही लड़ते-लड़ते क्षीण हो गये थे। अतः अब न उनके पास गौरव ही रह गया था और न गाने की सामग्री ही। कवियों का उत्साह क्षीण हो गया था।

मुसलमानों की प्रवृत्ति केवल लूट-मारकर धन संचय की न होकर भारत में राज्य स्थापित करने की भी थी। मुसलमान अपने राज्य-विस्तार के साथ-साथ धर्म का भी विस्तार कर रहे थे। हिन्दू जनता पर मनमाने अत्याचार किये जा रहे थे। क्योंकि हिन्दुओं में मुसलमानों से प्रतिकार लेने की शक्ति तो थी नहीं, और न ही वे अपने धर्म की अवहेलना ही सहन कर सकते थे। ऐसी अवस्था में "निर्बल के बल राम" के आधार पर भगवान् का आह्वान किया गया। कभी-कभी यदि राख में छिपी चिनगारी की तरह वे भड़क भी पड़ते थे तो दूसरे ही क्षण शान्त हो जाते। इसी प्रकार उन्होंने दुष्टों को दण्ड देने का कार्य भगवान् पर छोड़ दिया।

धार्मिक परिस्थितियाँ—कबीर के हिन्दी साहित्य में आविर्भाव

हिन्दू-मुस्लिम जनता में वैषम्य था परन्तु कबीर ने उन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए मध्यम वर्ग का अनुकरण किया। हिन्दुओं ने मुसलमानों की निर्गुण भावना को निस्संकोच भाव से स्वीकार कर लिया और उधर से हिन्दुओं के भी सिद्धान्तों को नतमस्तक होकर मुसलमानों ने अपनाना शुरू किया। उत्तर भारत में योगी या नाथपंथी साधु निराकार का प्रचार कर रहे थे। दूसरी ओर दक्षिण में रामानुज, निम्बार्क और मध्वाचार्य आदि राम, कृष्ण और नारायण की साकारोपासना का प्रचार कर रहे थे। इस समय उत्तर भारत का वातावरण युद्धमय था, अतः धार्मिक भावनाओं को अभी तक पनपने का अवसर नहीं मिला था। परन्तु थोड़ी-सी शक्ति होते ही यह धार्मिक भावना विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त होने लगी। योगियों के सिद्धान्तों के आधार पर कबीर ने निर्गुणोपासना का उपदेश देकर हिन्दू और मुसलमानों को समीप लाने का प्रयत्न किया। अब तक के संघर्षों से समाज का हृदय क्षुब्ध और जनता का जीवन नीरस था। उनके मन और हृदय शान्त नहीं थे। तब कुछ सूफी भक्तों ने नीरसता का निराकरण करने के लिए सच्ची सरसता का संचार किया और जन-जीवन को आह्लादित कर दिया। मुख्य-मुख्य आचार्यों ने धार्मिक क्षेत्र में विविध दार्शनिक सिद्धांतों के आधार पर अपने-अपने वादों का प्रतिपादन किया।

सामाजिक परिस्थितियाँ—निर्गुणोपासक कबीर के आविर्भाव से पूर्व समाज की स्थिति अत्यधिक विषम थी। हिन्दू-मुसलमान वैषम्य, सामाजिक संकीर्ण रूढ़ियाँ तथा अन्धविश्वास का घोरतम सारे समाज को अन्धकारमय किए हुए था। कबीर की निर्गुणोपासना ने साहित्य की अपेक्षा समाज को अधिक प्रभावित किया। कबीर सुधारक पहले और कवि पीछे थे। उन्होंने यह देखा कि धर्म के बाह्य विधि-विधानों से ही हिन्दू और मुसलमान परस्पर लड़ते-भिड़ते हैं। हिन्दू पूर्व की ओर मुख करके प्रार्थना करता है तो मुसलमान पश्चिम की ओर से खुदा को पुकारता है। कबीर ने दोनों रूपों के बाह्यावरण को छिन्न-भिन्न करना चाहा। हिन्दुओं की बाह्यविधियों को देखकर मुसलमान बहुत चिढ़ा करते थे। इनके विपरीत हिन्दू-धर्म उदार और सहनशील था। उसमें विभिन्न प्रवृत्तियाँ और साम्प्रदायिक सिद्धांत समा सकते थे। अतः मूर्ति-पूजा

न करके अपने घट और घर में ही प्रभु की उपासना कर लेने से हिन्दू-धर्म का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं था। ये मुसलमानों की तरह कट्टर व संकीर्ण विचारों के नहीं थे कि जरा-सा उल्लंघन करने पर किसी प्रकार का कुफ्र हो जाता। मुसलमानों में तनिक-सा धर्म के विरोध में कहने से बड़ा भारी 'कुफ्र' माना जाता था। उनकी सामाजिक और धार्मिक संकीर्णता ने ही उनकी धार्मिक प्रगति और सामाजिक विकास को रोका। कबीर इस स्थिति को भली प्रकार समझते थे। वे यह जानते थे कि हिन्दुओं की उदारता और सहृदयता किंचित् मात्र भी विकल नहीं होती थी, यदि उनके बाह्यविधानों की उपादेयता का समर्थन न किया जाए। कबीर को यह विश्वास था कि यदि कालान्तर में हिन्दुओं के विधि-विधानों का प्रभाव मुसलमानों पर पड़ जायगा तो वे कालान्तर में हिन्दू हो जायेंगे और भारतीयता के रंग में पूर्णतया सराबोर हो जायेंगे। अतः कबीर ने मुसलमानों की एक-एक बात को चुन-चुनकर काटा। नमाज, रोजा, पीर, पैगम्बर, ईद, बकरीद, बाँग आदि कोई भी अन्य ऐसा मुसलमानों का अंग नहीं होगा, जिसको कि कबीर ने तीक्ष्ण कैंची से न काटा हो—

"रोजा तुर्क नमाज गुजारे बिसमिल बाँग पुकारे।
ताके भिसत कहाँ ते होये, साँझे मुर्गी मारे॥"

और भी—

"काँकर पाथर जारि कै मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे बहरा हुआ खुदाय॥"

कहने का अभिप्राय यह है कि कबीर ने हिन्दुओं के बाह्य विधि-विधानों का खण्डन किया। उनका एकमात्र उद्देश्य हिन्दू और मुसलमानों में शुद्ध सात्विक भारतीय धर्म का प्रचार था। उन्होंने हिन्दुओं को मुसलमान नहीं, बल्कि शुद्ध भारतीय होने के लिये बाधित किया। कबीर का उद्देश्य प्रभु-भक्ति का प्रचार न करके समाज-सुधार या हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य को लाना था। उन्होंने अपने पुराने दाशरथी राम को नवीन, निर्गुण निर्विकार का रूप दे दिया। किन्तु उसका नाम राम, गोविन्द, हरि ही रहने दिया। निम्नवर्ग की जनता को सत्य, अहिंसा, सदाचार, सन्तोष आदि का पाठ पढ़ाकर उन्हें

अत्यन्त ही स्तुत्य प्रयत्न उन्होंने किया। मुसलमानों पर उनका सहसा प्रभाव पड़ना तो बहुत असम्भव था। वे सहसा भारतीय रंग में नहीं रंगे जा सके, परन्तु धीरे-धीरे उनका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। कबीर की प्रेरणा प्राप्त कर जायसी, रहीम, रसखान आदि भी भारतीय रंग में रंग पाये। इस प्रकार कबीर द्वारा समाज में बोया हुआ बीज आगे चलकर जायसी के रूप में अंकुरित हुआ। जायसी ने कबीर की रही-सही कमी को प्रेम की पीर के आधार पर सम्पन्न किया। कबीर की अटपटी और नीरस वाणी से साधारण जनता तो प्रसन्न हो गई, परन्तु विद्वत् मंडली पर इतना प्रभाव न पड़ा। जायसी ने अपनी प्रेममय मधुर वाणी से सभी को ऐसा प्लावित किया कि जिसका प्रभाव युग-युगान्तर तक भी दूर नहीं हो सकता था।

मानव-मात्र के कल्याण के लिए प्रेम भक्ति रूपी संजीवनी बूटी का रूप जायसी ने प्रदान किया। कबीर ने यद्यपि अपनी प्रेम-भक्तिमयी वाणी के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम के आन्तरिक वैमनस्य को दूर किया तथापि कुछ प्रच्छन्न फकीर ऐसे थे जिनका एकमात्र उद्देश्य इस्लाम का प्रचार करना था। वे अपने आडम्बरपूर्ण आचरण से मोहित कर लोगों को अपने वश में करते और उनकी अन्ध-भक्ति को बढ़ाते। कुछ ऐसे भी अन्धमूर्ख थे जो स्वयं को हिन्दू समझते हुए भी कब्रों को जाकर पूजते थे। उच्च वर्गों में उनकी दाल नहीं गलती थी किन्तु वे तथाकथित निम्नवर्ग को अधिक प्रभावित करते। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में सूफी साधुओं ने जनता पर अपना अधिकार जमाया।

विदेशी सत्ता से अधिकृत हो जाने से हिन्दुओं में संस्कृति और शिक्षा का प्रसार नहीं रह गया था। लुक-छिपकर कुछ मन्दिरों में पूजा आदि अवश्य करते, शास्त्र-चर्चा आदि करते, परन्तु सामान्य जनता इन बातों से दूर हटती जाती थी। इस प्रकार धर्मध्वजों के पतन के कारण दूसरों को ऊँचा करने का अवसर मिलता था। कुछ आचारनिष्ठ त्यागी और विद्याव्यसनी द्विज अवश्य रह गये थे। परन्तु उनका प्रभाव भी प्रतिदिन कम होता जाता था।

जैसे ही राजशक्ति की प्रबलता ने भारतीय जन-समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया, वैसे ही दूसरी ओर धर्म की इस नई व्याख्या ने साधारण लोगों को

लुभाकार चिरकाल से प्रतिष्ठित आदर्शों, विश्वासों और सिद्धान्तों पर प्रहार किया। जो लोग देश की विद्या, संस्कृति और एकता के मूल में युग-युग से जीवन देकर हरा-भरा करते, उनकी हँसी उड़ाई जाती, उन्हें अहम्मन्य समझा जाता तथा उनकी अवहेलना की जाती। फलतः समाज की नींवें खोखली हो गईं। ऐसी स्थिति में जिस साहित्य की आवश्यकता थी, समाज को जैसे कवि की इच्छा या जिन चीजों की आवश्यकता थी, सूफी कवि वे चीजें उन्हें दे सके। यद्यपि समाज की नैया डगमगा रही थी, उस पर भयंकर उत्ताल तरंगों और तूफानों के थपेड़े लग रहे थे। चारों ओर भयंकर आँधी चल रही थी और ऊपर से मूसलाधार वर्षा ओलों सहित हो रही थी। फिर भी सूफी कवियों ने शीघ्र ही ऐसी स्थिति पर नियन्त्रण कर लिया और देश में शान्ति और प्रेम के बीज बोकर सुन्दर साहित्य का सृजन किया।

प्रश्न १६—सूफीमत की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसके प्रमुख कवियों और काव्यों का परिचय दीजिए।

एक प्राचीन परम्परा के अनुसार यह कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम शेख अबू हाशिम को सूफी कहा गया। उसके पश्चात् इस युग के अंतिम चरण तक में कई सूफी सन्त हुए। इस प्रकार हिजरी सन् की दूसरी शताब्दी के अंतिम चरण में सूफी सन्तों की खूब प्रतिष्ठा बढ़ी और वे चरित्रवान व्यक्ति कहलाने लगे। इसी प्रकार द्वितीय युग में भी सूफी साहित्य का क्रमिक विकास होता गया। सूफी मत का वास्तविक इतिहास उसके तृतीय युग से माना जाता है, क्योंकि प्रथम युग में प्रधान सूफी लोगों के जीवनवृत्त एवं उपदेशों का संग्रह ही किया जाता था। द्वितीय युग में प्रमुख सूफी पण्डितों के समय-समय पर किये गए कथनों को क्रमबद्ध प्रणाली में रखा गया परन्तु तृतीय युग में सूफियों के मूलभूत सिद्धान्तों को अपने-अपने ढंग से रखने की चेष्टा आरम्भ हो गई थी। यह युग सूफी मत के प्रचार की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का युग है और इस कार्य में धर्माचार्यों के अतिरिक्त कवियों ने प[illegible]योग दिया। इस प्रकार तृतीय युग तक सूफी धर्म का प्रचार संसार [illegible]ों में फैल गया। इस्लाम धर्म का प्रचार अधिकतर तलवार के द[illegible] सूफी

मत का प्रचार बल-प्रयोग की अपेक्षा चमत्कारपूर्ण चेष्टाओं से हुआ। इस प्रकार सूफी काव्य रचना भी विशेपकर मुसलमानों के कोमल हृदय की अभिव्यक्ति है। जिस समय मुसलमानी सत्ता भारतवर्ष पर पूर्ण रूप से अपना राज्य स्थापित कर चुकी तो हिन्दू और मुसलमान दोनों में परस्पर स्नेह-भाव के जागरण की आकांक्षा पैदा हुई। मुसलमानों का एक दल उस समय ऐसा भी था जो हठात् हिन्दू धर्म के प्रति उदार ही नहीं वरन् उस पर आस्था भी रखता था। इस प्रकार जहाँ वे एक ओर सूफी धर्म के प्रचार की भावना में विश्वास रखते वहाँ दूसरी ओर हिन्दू-धर्म के आदर्शों को सौजन्य की दृष्टि से देखते। बस इसी भावना के आधार पर ही प्रेमकाव्य की रचना हुई।

स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि सूफी मत भारतवर्ष में चार सम्प्रदायों के रूप में आया—

(१) चिश्ती सम्प्रदाय—बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में।
(२) सुहरावर्दी सम्प्रदाय—तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में।
(३) कादरी सम्प्रदाय—पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में।
(४) नक्शबन्दी सम्प्रदाय—सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में।

इन चारों सम्प्रदायों का प्रभाव ईश्वरोन्मुखी प्रवृत्ति होने के कारण साधारण जनता पर विशेष मात्रा में पड़ा। हिन्दू समाज के निम्न दल के व्यक्ति जिन्हें समाज में उचित सुविधाएँ प्राप्त नहीं होती थीं, इन सम्प्रदायों में दीक्षित होते रहे।

इन सम्प्रदायों से प्रभावित प्रेमकाव्य का परिचय तो वैसे चारणकाल से ही मिल जाता है। अतः धार्मिक दृष्टि से प्रेमकाव्य का आरम्भ "चन्दावत' (चारण काल में) से ही मानना चाहिए। इसके पश्चात् जायसी से पूर्व कई प्रेमकाव्य लिखे गए—स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, खंडरावती, मधुमालती, प्रेमावती। इनके अतिरिक्त जो शेष हैं, उनका कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। एक और भी प्राप्त है जिसे लक्ष्मणसेन 'पद्मावती' कहते हैं। यह ग्रन्थ संवत् १५२६ में लिखा गया। इसको लिखने वाला "दमो" कहलाता है।

इनमें अधिकतर वीर-रस है । अपभ्रंश काल के ग्रंथों के समान इनमें बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक और प्राकृत में गाथा है ।

मृगावती—इसके रचयिता शेख कुतुबन थे, जो शेख बुरहान के शिष्य थे । इनके विषय में जो कुछ भी उपलब्ध है, उसके लिए यह पद लिया जाता है—

सेख बुड़न जग सांचा पीरू । नाम चेत सुध होय शरीरू।
कुतुबन नाम लेई पथेरे । सरवर दो दुहुँ जग नीर भेरे।"

ये सूफी थे । हिन्दी कविता करते समय अपना नाम 'रञ्जन' रखा करते थे । कुतुबन ने इस रचना की तिथि भादों में वदी ६, सं० १५६० दी है । उनका कहना है कि यह कथा तो पहले से ही चली आ रही है, मैंने तो केवल इसे दोहा, चौपाई, सोरठा, अरिल्ल आदि में लिपिबद्ध किया है । मृगावती की प्रेम-कथा लौकिक प्रेम की कथा है जिसमें अलौकिक प्रेम का पूर्ण संकेत मिलता है । कंचनपुर के राजा की राजकुमारी मृगावती पर चन्द्रगिरि के राजा का पुत्र मोहित हो जाता है । वह प्रेम में योगी बनकर निकल जाता है । अनेक कष्ट झेलने के उपरांत वह राजकुमारी को प्राप्त करता है । काव्य में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है । फिर भी ईश्वर-विषयक संकेत ठीक दिया गया है । भाषा अवधी और दोहा-चौपाई की पद्धति है । न जाने इसका मूल आदर्श क्या था, किन्तु इसमें आए हुए अलौकिक प्रसंगों से ज्ञात पड़ता है कि इस पर शामी परम्परा का प्रभाव है । कथा को भारतीय संस्कृति के वातावरण में रखकर सजाने से कुतुबन को हम प्रेमगाथा के सूफी कवियों का पथप्रदर्शक कह सकते हैं ।

मधुमालती—इसकी अब तक केवल खंडित और अधूरी प्रतियों के ही उपलब्ध होने के कारण इसके रचयिता मलिक मंझन व शेख मंझन के संबंध में कई विवाद-ग्रस्त बातें सुनी जाती हैं । अभी तक इसकी एक ही प्रति रामपुर स्टेट लाइब्रेरी में प्राप्त हो सकी है । अब इतना तो निश्चित हो गया है कि इसका रचनाकाल १५४५ ई० है । इसमें संदेह नहीं कि मधुमालती के कारण मंझन का नाम प्रेमगाथा के सूफी कवियों में अमर [illegible] है । "[illegible] सुख सार जग प्रेम" का आदर्श लेकर चलने वाले [illegible] में ऐसी सहृदयता दिखाई है जो अन्यत्र दुर्लभ है । कवि [illegible]

अतएव प्रेमगाथा भी आकर्षक और भावात्मक है । कल्पना भी इसमें यथेष्ट है। उसके द्वारा निस्वार्थ प्रेम की अभिव्यंजना सुन्दर रूप से होती है। इसमें कनेसर के राजा के पुत्र मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। कथा में वर्णनात्मकता का अंश अधिक है। प्रेम के चित्रण में विरह अधिक महत्त्वपूर्ण साधन है । कहा जाता है कि यह कवि अत्यधिक लोकप्रिय रहा है । इसके पीछे इसी के कथानक को लेकर कई उर्दू कवियों ने अपनी मसनवियों की रचना की । इस कवि की यह भी विशेषता रही है कि इसने प्रेम-भाव को प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर जाग्रत कराया है। यही बात आगे चलकर 'जान कवि' की "मधुकर मालती" में भी दीख पड़ती है।

चित्रावली—प्रेमकाव्यों में 'चित्रावली' का नाम भी बड़े गौरव के साथ लिया जा सकता है । चित्रावली को हम 'पद्मावत' की छाया भी कह सकते हैं। 'पद्मावत' में जिन-जिन विषयों पर प्रकाश डाला गया है उन्हीं विषयों का चित्रावली में वर्णन मिलता है । परन्तु कथा 'पद्मावत' की भाँति इतिहास से सम्बंधित नहीं है । कथा अधिक कल्पना-प्रसूत नहीं है । इसके सम्बन्ध में स्वर्गीय जगमोहनदास लिखते हैं कि "कवि ने इस काव्य में स्थान-स्थान पर वेदान्त और अद्वैतवाद की झलक दिखाई है।"

'चित्रावली' की कथा में घटनाओं की शृंखला बहुत लम्बी और कौतूहल-पूर्ण है । उसमें अनेक अलौकिक बातों का भी समावेश है। कथा को विस्तृत करने की क्लिष्ट कल्पना की गई है । दो राजकुमारियों से विवाह करने से पूर्व जितनी कठिनाइयाँ आती हैं उनकी विस्तृत विवेचना चित्रावली में हुई है। कल्पना के साथ-साथ आध्यात्मिकता का आश्रय पूरा-पूरा लिया गया है । सरोवर खण्ड में चित्रावली का जल में छिपना ईश्वर के अमूर्त होने से साम्य रखता है। सखियों के द्वारा उसे खोजना आत्मा की जिज्ञासावृत्ति का द्योतक है । इसके साथ ही चित्रावली में नीति के दर्शन भी होते हैं। 'उसमान' की लोकोक्तियाँ समस्त ग्रंथ में भरी पड़ी हैं । चित्रावली में भूगोल का भी यथेष्ट वर्णन है। यह सब कुछ कवि की बहुज्ञता का सूचक है।

पद्मावत—यह एक प्रेम-आख्यान है। इसका पूर्वार्द्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध

ऐतिहासिक है । पूर्वार्द्ध में तोते द्वारा पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर, रत्नसेन के द्वारा सिंहलद्वीप जाने तथा शिवजी की कृपा से पद्मिनी को प्राप्त करने तक का वर्णन है । यह भाग लोकवार्ता पर आधारित है। उत्तरार्द्ध में राघव-चेतन का अलाउद्दीन को लाना और रत्नसेन का देवपाल के हाथों मारा जाना, यद्यपि इतिहाससम्मत नहीं फिर भी ऐतिहासिक ही है । इस ग्रंथ पर नाथ-पन्थ का भी प्रभाव है, क्योंकि सिंहलद्वीप नाथपंथियों की सिद्ध पीठ है । हठ-योग की क्रियाओं का प्रभाव रत्नसेन पर स्पष्ट दिखाया है, जबकि वह अनेक कष्ट सहन करता हुआ पद्मावती के पास जाता है। इस प्रकार लौकिक प्रेम के सहारे आध्यात्मिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति की गई है। पद्मावती काव्य के ये चरित्र मसनवियों के ढंग पर रचे गये हैं । काव्य के आरम्भ में गुरु, रसूल, बादशाह आदि की वन्दना है । सारा काव्य अवधी में दोहा-चौपाई की पद्धति के आधार पर लिखा गया है । स्थान-स्थान पर घटनाओं के शीर्षक दिए गए हैं । सारा महाकाव्य खंडों में विभाजित है । सारी कथा हिन्दू जीवन तथा संस्कृति से सम्बन्ध रखती है । इसमें लौकिक प्रेम द्वारा आध्यात्मिक प्रेम का परिचय निम्न पद में रूपक के आधार पर मिलता है—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा, हिय सिंहल बुधि पद्मिनी चीन्हा ।
गुरु सुआ जेई पंथ दिखावा, बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥"

प्रेमाश्रयी शाखा में इन प्रेमकथाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी कथाएँ लिखी गईं जो सम्पूर्णतः आख्यानक थीं। उनमें प्रेम के मनोविज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई व्यंजना नहीं थी।

जैसे 'माधवानल कामकन्दकला' जो अति उत्कृष्ट प्रेमकथा है । दूसरी पुस्तक 'कुतुब शतक' है जिसमें कुतुबुद्दीन तथा मुसलमान किशोरी साहिबा का वृत्तान्त है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है।

'रस रतन'—इस ग्रंथ में सूरसेन की लम्बी कथा वर्णित है। इसमें स्थान-स्थान पर नीति, शृंगार और काव्य के अनेक अंगों का वर्णन है।

'कनकमंजरी'—इसके लेखक कवि काशीराम हैं। यह भी एक प्रेम कथा है।

'मदन शतक'—फुटकर कवियों का संग्रह है जिसमें मदनगुपाल और चम्पक-

माला का प्रेम वर्णित है। इसके अतिरिक्त गद्य में विनोद रस, पुहुपावती, नल दमन, हंस जवाहर त्रियाविनोद, मधुमालती, इन्द्रावती, प्रेमरत्न आदि हैं जो सभी प्रेम-गाथाएँ हैं। इन पद्य-बद्ध प्रेमगाथाओंके अतिरिक्त गद्य में भी उसी समय में प्रेमकथाएँ लिखी गईं जिनमें बात-संग्रह मोमलरी बात, देवरै नायक, देवारी बात, सोहणी री बात आदि ग्रंथ हैं। इनके प्रणयन काल, कवि परिचय अनिश्चित या अज्ञात हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये सब प्रेम-काव्य हैं और प्रेमाश्रयी शाखा के अन्तर्गत माने जाते हैं।

प्रश्न १७—कबीर और जायसी—इन दोनों कवियों पर एक तुलनात्मक लेख लिखिए।

तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अनुरूप ही किसी काल के साहित्य का निर्माण होता है। भक्तिकाल के साथ भी यही हुआ। इस युग के पूर्व ही ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं जिनके कारण पूर्वकालीन काव्य का क्षेत्र परिवर्तित हो गया। मुगलों से पूर्व भारत में आने वाले तुर्क लोगों को सांस्कृतिक क्षेत्र में भारतीयों के साथ सामंजस्य स्थापना की आवश्यकता नहीं पड़ी क्योंकि वे आते थे, आक्रमण करते थे और लूट-पाट कर चले जाते थे, परन्तु जब मुगल भारत में आए तो उन्होंने अपना राज्य ही यहाँ स्थापित कर लिया और हिन्दुस्तान के साथ शासित वर्ग जैसा अत्याचारपूर्ण व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप हिन्दू-मुसलमानों का संघर्ष और घृणा का भाव दिन-प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होने लगा। इसके साथ ही 'रक्षा' की भावना ने हिन्दुओं के सामाजिक बन्धन दृढ़ कर दिए थे। अतः इस सामाजिक संकीर्णता के आवरण में धार्मिकता गौण हो गई। प्रतिभाशाली कवियों को यह संकीर्णता बहुत अखरी और उन्होंने शुद्ध आध्यात्मिकता के बल पर, जिसमें शास्त्रों का कोई बन्धन स्वीकार नहीं था, इस संकीर्णता को दूर करना चाहा। भक्तिकाल की सन्तकाव्य-परम्परा के सन्त कवियों और प्रेमाख्यानक परम्परा के सूफी कवियों ने यही किया। कबीर और जायसी इन्हीं दो परम्पराओं के क्रमशः प्रतिनिधि कवि हैं। इन दोनों ने ही हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति एवं धार्मिक भावना के समन्वय करने का स्तुत्य प्रयत्न किया।

कबीर और जायसी का तुलनात्मक अध्ययन करते समय सर्वप्रथम हमारी दृष्टि उनकी काव्य-रचना के उद्देश्य को प्रकट करने की शैली पर जाती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन दोनों ही कवियों की काव्य रचना का मुख्य उद्देश्य हिन्दू और मुसलमानों के बीच बढ़ते हुए संघर्ष और वैमनस्य के भाव को दूर कर मात्र प्रेम उत्पन्न करना था। वे धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से एक सामंजस्य का भाव पैदा करना चाहते थे। परन्तु उद्देश्य एक होते हुए भी इन दोनों कवियों के दृष्टिकोण अथवा शैली नितान्त भिन्न थी। कबीर ने जहाँ अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए खंडन-मंडनात्मक शैली को अपनाया वहाँ जायसी ने प्रेम कथानकों के माध्यम से ही अपना उद्देश्य पूर्ण किया। कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों के बाह्य-विधानों की कटु आलोचना की और कहा—

"अरे इन दोउन राह न पाई।"

कबीर सम्प्रदायवाद के परे और पक्षपात से दूर थे। उन्होंने एक ओर तो हिन्दुओं की मूर्तिपूजा, जाति-पाँति के भेदभाव और वर्ण-व्यवस्था की निन्दा की और दूसरी ओर मुसलमानों के रोजा रखने, मास खाने और मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ने को व्यर्थ बताया। हिन्दुओं की मूर्तिपूजा के बारे में उन्होंने कहा—

"पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली, पीस खाय संसार॥"

इस प्रकार मुसलमानों की मस्जिदों की निरर्थकता के लिए उन्होंने कहा—

"काँकर पाथर जोरि कै, मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहिरा हुआ खुदाय॥"

मुसलमानों के रोजों की भी उन्होंने बहुत बुराई की—

"दिन भर रोजा धरत है, रात हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बन्दगी, कैसे खुसी खुदाय॥"

उन्होंने अनुभव किया कि सामाजिक एकता में जाति-पाँति का भेद-भाव बाधक है, अतः इस भेद-भाव का निराकरण करते हुए उन्होंने कहा—

"न कोई हिन्दू तुरक कहावै, एक जमीं पर रहिए।"

अथवा

"जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई ।"

वे हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था को भी बहुत बुरा समझते थे और उसकी इन्होंने कटु आलोचना की—

"एक बूंद ते सब कोई उपजा, को ब्राह्मण को शूद्रा ।"

"जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये, और राह तुम काहे न आये ॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने प्रायः खंडनात्मक शैली द्वारा ही वास्तविक तथ्य को प्रकट करने का प्रयत्न किया है । इसके विपरीत जायसी ने जनता के कल्याण के लिए प्रेम भक्तिरूपी संजीवनी बूटी का दान दिया । इनका उद्देश्य भी हिन्दू मुसलमान संस्कृति का समन्वय करना था । अतः इन्होंने सूफी होने के कारण मुसलमानी सिद्धांतों का तो प्रतिपादन किया परन्तु उसका माध्यम हिन्दू घरानों की कथाओं को ही बनाया । इन्होंने अपनी रचनाओं में हिन्दू संस्कृति और धर्म-संबंधी मान्यताओं के प्रति निरादर का भाव न प्रकट कर आदर का भाव प्रकट किया है । इनकी अद्वैत भावना भी भारतीय अद्वैतवाद से पूर्ण साम्य रखती है । आत्मा परमात्मा के मिलन और बिछुड़न की अवस्था का वर्णन भी कबीर, सूर आदि भारतीय संस्कृति के पुजारी कवियों की भाँति किया गया है । इनके 'पद्मावत' में नागमती को एक हिन्दू आदर्श पतिव्रता नारी के रूप में ही चित्रित किया गया है ।

कबीर की खंडनात्मक प्रवृत्ति और जायसी की सहृदयतापूर्ण कोमल प्रवृत्ति के विषय में आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है—

"कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर करने का जो प्रयत्न किया वह अधिकतर चिढ़ाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करने वाला नहीं । मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है उसके द्वारा व्यक्त नहीं हुआ । कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था । प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की जो आवश्यकता बनी थी, वह जायसी द्वारा पूरी हुई ।"

कबीर और जायसी हिन्दी साहित्य के उत्कृष्ट रहस्यवादी कवियों में से हैं। इनके रहस्यवाद पर अद्वैतवाद और सूफीमत के सिद्धान्तों का समान रूप से प्रभाव पड़ा है। फलस्वरूप इनकी रहस्यवादी भावना में कुछ वैषम्य होते हुए भी पर्याप्त साम्य है। इनकी रहस्यानुभूति का पहला आवश्यक अंग है दाम्पत्य भावना। कबीर ने अपनी आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति रूप मानकर कहा कि "हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया।" जायसी ने आत्मा और परमात्मा में दाम्पत्य सम्बन्ध तो जोड़ा परन्तु कबीर के विपरीत उन्होंने आत्मा को पुरुष और परमात्मा को स्त्री रूप माना है। इसके अतिरिक्त एक अन्य अन्तर यह है कि कबीर ने जहाँ प्रायः आत्मा को ही परमात्मा के वियोग में सन्तप्त दिखाया है वहाँ जायसी ने आत्मा और परमात्मा दोनों को ही वियोगावस्था में, समान रूप से एक दूसरे से मिलने के लिए आतुर दिखाया है। 'पद्मावत' में रत्नसेन पद्मावती से मिलने के लिए उतना ही आतुर है जितना कि पद्मावती उससे मिलने के लिए। कबीर और जायसी के अन्तर का कारण स्पष्ट है कि कबीर ने अपने व्यक्तित्व में पूर्णरूपेण भारतीय होने के कारण भारतीय प्रणाली के अनुसार आत्मा को स्त्री और परमात्मा को पुरुष रूप माना और क्योंकि हमारे यहाँ सदा से ही स्त्री को पुरुष से मिलने के लिए अधिक आतुर दिखाया गया है। इसके विपरीत जायसी अपनी प्रबन्धात्मकता में भारतीय होते हुए भी अपनी रहस्यानुभूति में सूफी ही हैं। इस प्रकार उन्होंने सूफी परम्परा के अनुसार आत्मा को पुरुष और परमात्मा को स्त्री रूप माना और दोनों को वियोगावस्था में एक दूसरे से मिलने के लिए समान भाव से आतुर दिखाया।

रहस्यवाद का दूसरा अंग है प्रेम के अन्तर्गत विरह भाव की अभिव्यक्ति। रहस्यानुभूति का वेदनामय होना अनिवार्य है। आत्मा जब से शरीर धारण करती है तभी से उनका अपने अंगों से विछोह हो जाता है और वियोगी के लिए सन्तप्त और दुःखी रहना स्वाभाविक है। यही कारण है कि रहस्य-अभिव्यक्ति में सदा वेदना का प्राधान्य रहता है। कबीर तथा जायसी दोनों के ही

काव्य में वेदना का प्राधान्य है। कबीर की वियोगिनी आत्मा सदैव अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक अपने प्रिय-मिलन के दिन की बाट जोहती है—

"वे दिन कब आवेंगे माई।
जे कारण यह देह धरी है, मिलिबो अंग लगाई।"

विरह के कारण कबीर की आत्मा बड़ी विषम स्थिति में है। रोते-रोते उनकी आखों में झाँई पड़ गई है और नाम पुकारते-पुकारते जिह्वा जल चुकी है—

"अखियाँ झाँईं पड़ी, पन्थ निहारि-निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड्या, नाम पुकारि-पुकारि।"

युग बीत गये आत्मा को परमात्मा की राह देखते हुए और उसका नाम रटते हुए—पर मिलन न हो सका। वियोग का यह दुःख एक दिन का हो तो भुगता जाए, रोज-रोज की मुसीबत कौन सहे—

"कै विरहनि कूँ मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाँझड़ा, मो पै सह्या न जाय॥"

कबीर के विरह वर्णन का उत्कृष्टतम रूप वहाँ है जहाँ उनकी आत्मा परमात्मा के मिलन के लिए अपने शरीर को भी जला देना चाहती है—

यह तन जारौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखनि करौं करंक की, लिखि-लिखि राम पठाउँ॥

इस प्रकार कबीर के काव्य में तो वेदनानुभूति मिलती ही है, जायसी में भी इसका अभाव नहीं है। जायसी सूफी कवि थे। और क्योंकि सूफी परम्परा में वेदना का बहुत प्राधान्य दिया गया है अतः जायसी के काव्य में पग-पग पर हमें 'वेदना' का दर्शन होता है। 'पद्मावत' में नागमती, पद्मावती और रत्नसेन तीनों का विरह-वर्णन अत्यन्त विशद, गम्भीर और मर्मस्पर्शी बन पड़ा है। आत्मा रूप रत्नसेन अपने 'इष्ट' के दर्शन के सम्मुख राज्य तो क्या मुक्ति और स्वर्ग को भी कुछ नहीं समझता—

"ना हौं सरग का चाहौं राजू। ना मोहि नरक सेंति कछु काजू।
चाहौं ओहि कर दरसन पावा। जेहि मोहि आनि पेम पथ लावा॥"

रत्नसेन ही नहीं, पद्मावती भी विरहाग्नि में जल रही है—

"जरिऊँ विरह जस दीपक बाती। पंथ जोहत भई सीप सेवाती॥
डाढ़ि-डाढ़ि जिमि कोइल भई। भयऊँ चकोर नींद निसि गई॥"

जायसी की नागमती का विरह-वर्णन तो हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। उसकी उक्तियों में विरह अपनी चरमावस्था पर पहुँच जाता है। नागमती की छटपटाती हुई आत्मा की यह उक्ति किसके हृदय को नहीं बेधती—

यह तन जारौं छार करि, कहौं कि पवन ! उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परैं, कंत धरैं जहँ पाँव॥"

अथवा

हाड़ भए सब किंकरी, नसें भईं सब ताँति।
रोम-रोम ते धुनि उठे, कहौं विरह केहि भाँति॥"

वस्तुतः जायसी का विरह-वर्णन कबीर की अपेक्षा अधिक मर्मस्पर्शी बन पड़ा है जिसका कारण यह है कि जायसी को अपनी इस भावात्मक रहस्यानुभूति में प्रबन्ध कल्पना का बहुत योग मिला क्योंकि पद्मावत का कथानक रहस्यात्मकता को छोड़कर भी अपने में इतना करुणाजनक है कि कई स्थलों पर पाठक का मन द्रवीभूत हो उठता है। इसके विपरीत कबीर ने इस आध्यात्मिक विरह-वर्णन को सैद्धान्तिक आवश्यकता के कारण अपनाया है। अतः उस अभिव्यक्ति में संवेदनीयता नहीं आ पाई।

इस आध्यात्मिक अनुभव में गुरु का बड़ा स्थान है। जीव में इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि वह मोह-बन्धन की अवज्ञा करके इस आध्यात्मिक सम्बन्ध का अनुभव करे। इसके लिए सद्गुरु की आवश्यकता पड़ती है। गुरु उपदेश और चेतावनी द्वारा शिष्य को उस सम्बन्ध की प्रतीति कराता है। कबीर और जायसी दोनों गुरु को उचित मान दिया है। कबीर ने अपने गुरु को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा—

"पीछे लागा जाई था, लोक वेद के साथि।
आगे ते सतगुरु मिल्या, दीपक दीया

जायसी का भी यही विचार है कि गुरु के अतिरिक्त और कोई मार्ग-प्रदर्शन नहीं कर सकता—

"गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा, बिन गुरु जगत को निगुन पावा।"

कबीर और जायसी की इस रहस्यवादी परम्परा में हठयोग का भी महत्त्व-पूर्ण स्थान है। हठयोग प्रणाली पर खड़ा किया गया कबीर का निम्नलिखित रूपक अपनी भाव-व्यंजना में अद्वितीय है।

"झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया।
आठ कंवल दस चरखा डोले पाँच तत्व गुन तीनी चदरिया॥"

कहीं-कहीं पर कबीर ने इन हठयोगी परम्पराओं के आधार पर साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

"अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीजै।"

जायसी ने भी अत्यन्त भावुक सूफी कवि होते हुए भी अपने रहस्यवाद में हठयोग परम्परा का भाव ग्रहण किया। अपने प्रबन्ध में अवसर पाते ही हठ-योग परम्परा के अनुसार शरीर का वर्णन करने में न चूके—

"गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। पुरुष देखि ओही की छाया॥
गढ़ तर कुंड सुरंग तेहि माहाँ। तहँ वह पंथ, कहौं तोहि पावा॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर और जायसी दोनों की रहस्य-भावना की अपनी-अपनी विशिष्टता है। दाम्पत्य सूत्र के दृष्टिकोण से कबीर भारतीय हैं और जायसी सूफी; पर 'प्रेम की पीर' दोनों में समान रूप से विद्यमान है। विरह निवेदन में कबीर सैद्धान्तिक हैं और जायसी साहित्यिक। अतः पाठक का मन जहाँ जायसी के करुणाविगलित स्वर की ओर आकृष्ट होता है वहाँ वह कबीर की स्पष्टवादिता की भी उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से कबीर और जायसी के साहित्य का अध्ययन करें तो मालूम होगा कि जायसी के समान कबीर में प्रकृति का विराट् रूप नहीं मिलता। कबीर जो कुछ कहना चाहते हैं उसका संकेतमात्र ही करके हर

जाते हैं पर जायसी जो कुछ बताना चाहते हैं उसे अत्यन्त कुशलता तथा सहृदयतापूर्वक चित्रित कर देते हैं। प्रबन्ध की पृष्ठभूमि के साथ यह चित्रण और भी प्रभावोत्पादक बन जाता है। कबीर पर वेदान्त के खण्डन का अधिक प्रभाव पड़ा है, अतः प्रकृति के विराट रूप की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। इसके विपरीत जायसी ने प्रकृति के सत्य रूप को अधिक अपनाया जिसमें उनकी सहृदयता को अपना जौहर दिखाने का पूरा-पूरा अवसर मिल सका। इसलिए आचार्य शुक्ल ने कहा है, "उस रहस्यवादी सत्ता का आभास देने के लिए जायसी बहुत ही रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्य-संकेत उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। कबीर के चित्रों में न वह एकरूपता है न वह मधुरता।"

प्रकृति-चित्रण के उपरान्त अब हम भाषा, शैली, छंद, अलंकार आदि की दृष्टि से इन दोनों की तुलना करेंगे। भाषा की दृष्टि से कहा जा सकता है कि कबीर की भाषा में पंजाबी, ब्रज, अवधी, अरबी, फारसी और खड़ी बोली एवं राजस्थानी आदि अनेक भाषाओं का मिश्रण है परन्तु जायसी ने तत्कालीन बोलचाल की अवधी में रचना की है। संस्कृत का प्रयोग न होने के कारण उसमें साहित्यिकता का अभाव है। अवधी के अतिरिक्त अरबी और फारसी भाषा में कुछ प्रचलित शब्द और मुहावरे भी मिलते हैं। इसके साथ ही कबीर की भाषा में जहाँ माधुर्य का सर्वथा अभाव है, जायसी में इस गुण का आधिक्य है। कबीर के काव्य में अक्खड़पन है परन्तु जायसी का काव्य ठेठ ग्राम्यता पर आधृत होते हुए भी अत्यन्त कोमलता को लिए हुए है। रस की दृष्टि से जायसी ने प्रेम कथाओं का आधार लेकर ही अपना काव्य रचा, अतः उसमें शृंगार रस का आधिक्य है यद्यपि करुण, शान्त और वीर, वीभत्स आदि रसों का नितांत अभाव नहीं है जब कि कबीर के काव्य में प्रायः शान्त रस की प्रधानता है और अद्भुत, करुण आदि अन्य रसों का भी कहीं-कहीं वर्णन हो गया है। वास्तव में कबीर का काव्य मुक्तक होने के कारण उसमें किसी भी विशेष रस का पूर्ण परिपाक नहीं कहा जा सकता जबकि जायसी ने प्रबन्ध काव्य लिखा और इसीलिए उसमें किसी भी विशेष रस का पूर्ण परिपाक दिखाया जा सकता था।

कबीर और जायसी के छन्द प्रयोग के बारे में हम कह सकते हैं कि कबीर ने प्रायः दोहे, साखी, शब्द, रमैनी और उलटबाँसियों का ही अधिक प्रयोग किया है जबकि जायसी ने प्रायः पद और दोहे ही लिखे हैं।

भाषा में प्रयुक्त मुहावरों, कहावतों तथा अलंकारों की दृष्टि से ये दोनों कवि प्रायः समान हैं क्योंकि दोनों के ही काव्यों में इनका प्रयोग किया गया है। पर उनमें कृत्रिमता न होकर स्वाभाविकता है, आडम्बरहीनता है। दोनों ने ही उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार तथा यमक, श्लेष व अनुप्रास आदि शब्दालंकारों का ही प्रायः प्रयोग किया है।

अन्ततः कबीर और जायसी के काव्य की कलापक्ष और भावपक्ष दोनों ही दृष्टि से तुलनात्मक आलोचना करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि जहाँ जायसी अपनी प्रबन्धात्मक शैली के कारण कबीर से कहीं बढ़ गये हैं वहाँ कबीर के काव्य में कुछ ऐसी विशेषताएँ आ गई हैं जो जायसी के काव्य में नहीं हैं। अतः दोनों में से किसी एक को दूसरे की अपेक्षा उत्कृष्टतर नहीं कहा जा सकता। दोनों के ही काव्य की अपनी विशिष्टताएँ हैं जो उन्हें अपने क्षेत्र में अद्वितीय सफलता प्रदान करती हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में दोनों का अपना-अपना अलग महत्त्व है।

प्रश्न १८—गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत कीजिए।

तुलसीदास की जीवनी के में सम्बन्ध कई वर्षों से गवेषणापूर्वक कार्य हो रहा है, परन्तु अभी तक उनके सम्बन्ध में कोई निश्चित सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है। तुलसीदास जी के जीवन-सम्बन्धी अन्तर्साक्ष्य की सामग्री के आधार कवितावली, बाहुक और विनय-पत्रिका हैं। इनके पश्चात् मानस, दोहावली, रामाज्ञा प्रश्न, पार्वती मंगल, बरवै रामायणादि जीवन सम्बन्धी उल्लेखों को स्पष्ट करते हैं। अन्य ग्रंथों में जीवन सम्बन्धी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं होती।

तुलसी के जन्मकाल के सम्बन्ध में उनके किसी भी ग्रंथ में कोई विवरण नहीं मिलता। उनकी माता का नाम हुलसी और पिता का नाम आत्माराम दूबे था। बाल्यकाल में ही माता-पिता की प्यारभरी गोद से विलग होना पड़ा और जीवन का प्रभात तुरन्त ही तमोमयी संध्या में परिवर्तित हो गया। घर

और विवश होकर मेघाच्छन्न रात्रि के निविड़ अन्धकार में बढ़ी हुई नदी व तैर कर पार किया और मिलन की सुखद कल्पनाओं में डूबे हुए स्त्री के पास पहुँचे। प्रेम की हृत्-तन्त्री ने झनकार कर उन्हें पत्नी की ओर खींच लिया था। रत्नावली ने उनके इस प्रेमाधिक्य पर व्यंग करते हुए उस दिव्य प्रेम की ओर संकेत किया जो जीव को भवसागर से पार कर देता है—

लाज न आवत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चर्ममय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
होती जो राम महँ, होति न तव भव-भीति॥"

इस फटकार से उनके हृदय-तल में गुरु द्वारा बोए हुए आध्यात्मिक संस्कार रूपी अंकुर प्रस्फुटित हो उठे। स्त्री की हृदय-विदारक और मर्मभेदी वाणी से चोट खाकर ये जीवन की ओर से विमुख और विरक्त हो गये और राम-भक्ति के पथ का अनुसरण करने लगे। इनके विवाह के सम्बन्ध में अनेक समालोचकों का अनुमान है कि "मेरे ब्याह न बरेखी" और "काहु की बेटी सों बटा न ब्याहब" के आधार पर इनका विवाह नहीं हुआ था। परन्तु 'मेरे ब्याह न बरेखी' का यह तात्पर्य नहीं कि 'मेरा ब्याह या बरेखी नहीं हुई' वरन् मेरे यहाँ तो न ब्याह ही होता है और न बरेखी ही' क्योंकि किसी की बेटी से अपना बेटा तो ब्याहना नहीं है। फिर विनयपत्रिका का यह पद—

"लरिकाई बीती अचेत चित्त, चंचलता चौगुनी चाय।
जीवन जर जुवति कुपथ्य करि, भयो त्रिदोप भरि मदन वाय॥"

तो स्पष्ट घोषित करता है कि उनका विवाह हुआ था। रत्नावली की व्यंगभरी वाणी से और जीवन की कटुता और क्षणभंगुरता से प्रभावित होकर तुलसी वैरागी बन गये। उन्होंने वैराग्य दशा और पर्यटन का अपने ग्रंथों में संक्षेप रूप से वर्णन किया है। राम कथा जो इन्होंने सूकरक्षेत्र में सुनी थी ही आगे जाकर पल्लवित हुई और इन्होंने चित्रकूट, अयोध्या, काशी, सीता-मढ़ी आदि तीर्थों की यात्राएँ कीं और सत्संग एवं शास्त्र अध्ययन के द्वारा अपने ज्ञान का विस्तार किया। उनकी राम-भक्ति की भावना दृढ़ से दृढ़तर होती

मानस' के आरम्भ (सं० १६३१) के समय कवि की अवस्था ७७ वर्ष ठहरती है, परन्तु इस तिथि को प्रामाणिक नहीं माना गया है। अतएव १५५४ में कवि का जन्म असम्भव है। विलसन के अनुसार कवि के 'रामचरितमानस' का प्रणयन ३१ वर्ष की अवस्था में आरम्भ हुआ। इसके अनुसार इनकी जन्म-तिथि १६०० सम्भावित है। परन्तु यह तिथि भी असम्भव जान पड़ती है। ग्रियर्सन ने जनश्रुति की अपेक्षा किसी दृढ़तर प्रमाण के आधार पर कहा है—"सबसे अधिक विश्वस्त विवरणों से यह बात स्पष्टतः प्रतीत होती है कि कवि का जन्म सं० १५८९ में हुआ था।" श्री रामगुलाम द्विवेदी भी इसी जन्म तिथि को प्रामाणिक मानते हैं। इस विचार के लिए एक महत्त्वपूर्ण समर्थन तुलसी साहिब, हाथरस वाले के आत्मोल्लेख में मिलता है, जब वह कहते हैं कि अपने पूर्व जन्म में जब इन्होंने अपने रामचरितमानस की रचना की थी, इनका जन्म 'सं० १५८९ भादों सुदी ११, मंगलवार' को हुआ था। यह तिथि गणना से शुद्ध उतरती है, सम्भवतः किसी परम्परागत साक्ष्य के आधार पर दी गई हो, और इस तिथि को मानने में कोई असम्भावना भी दिखाई नहीं देती। अतएव यही तिथि कवि की जन्म-तिथि मानी जा सकती है।

कवि के जन्मस्थान के विषय में भी अनेक विवाद प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार तुलसी का जन्म राजापुर में हुआ था और कुछ के मतानुसार सोरों ही इनकी जन्मभूमि थी। दोनों पक्षों के उद्धृत साक्ष्य पर यह निश्चित करना कठिन है कि दोनों में कौन-सा स्थान कवि का जन्म-स्थान है, और यह भी सम्भव है कि कोई तीसरा स्थान इस पुनीत पद का अधिकारी हो। यह तो निश्चित ही जान पड़ता है कि गोस्वामी जी राजापुर में बहुत काल तक रहे और उन्होंने कदाचित् उसी सूकरक्षेत्र की यात्रा की थी जो सोरों कहलाता है। इस सम्बन्ध में अभी गवेषणापूर्ण कार्य हो रहा है परन्तु अभी तक किसी निश्चित साक्ष्य का पता नहीं। जितनी भी सामग्री अब तक उपलब्ध हुई है, उसकी परीक्षा करने से तुलसीदास की जन्म-भूमि सोरों के पक्ष में अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है।

'गोसाईं चरित' के अनुसार वैराग्य धारण करने के पश्चात् तुलसी ने

सुन्दरम् का समावेश हो गया है । उनके जीवन के साथ-साथ उनकी कविता राममय हो चुकी थी । एक राम को अपना कर उन्होंने सारे जगत् को अपना लिया । राम के प्रति जिस प्रकार उनका दृष्टिकोण विशाल था , उसी प्रकार उसके साथ-साथ उनका कला-कौशल भी विस्तृत हो गया ।

तुलसीदास जी ने जहाँ मनोवृत्तियों का सूक्ष्म चित्रण किया है वहाँ कविता कामिनी के हृदय में रसोद्रेक भी किया है । वे केवल शुष्क मनोवैज्ञानिक न थे, उन्होंने उनके हलके और गहरे रूपों को एक दूसरे के साथ संश्लिष्टावस्था में देखा था । रामचरितमानस की विस्तीर्ण भूमि में इन्हीं के स्वाभाविक संयोग से उनकी रस प्रसविनी लेखनी सब रसों की धारा प्रवाहित करने में समर्थ हुई है । गीतावली काव्यकला की अत्यधिक मधुर अभिव्यक्ति है । इसमें जहाँ ब्रजभाषा का माधुर्य है वहाँ भावों की कोमलता भी अत्यधिक है । गीतावली में शृंगार रस ही प्रधान है । गीतावली का अन्तिम भाग कृष्ण-काव्य से प्रभावित होने के कारण अधिक शृंगारात्मक बन गया है । वसन्त और हिंडोला आदि अवतरणों ने तो शृंगार को और भी अतिरंजित कर दिया है । शृंगार रस के प्रभाव में पाठकों को आप्लुत करने में यद्यपि गोसाईं जी ने कोई अपेक्षा नहीं रखी तथापि उनका शृंगार रस रीतिकाल के शृंगारी कवियों के शृंगार की भाँति कामुकता का नग्न नृत्य न होकर सर्वथा मर्यादित है । शृंगार रस आदि अश्लीलता की परिधि से दूर पवित्रता की उच्चभूमि में कहीं उठा है तो वह गोसाईं जी की कविता में ।

तुलसीदास ने विप्रलम्भ शृंगार का भी विदग्धतापूर्ण वर्णन किया है । वैसे तो उनकी दृष्टि में विरह-प्रसूत दुःख और पीड़ा भाग्य-प्रेरित होती है । सीता जी के हरण के समय भगवान राम के विलाप में तुलसी का विरह वर्णन स्पष्टतः लक्षित हो जाता है । करुण रस का उद्रेक तो राम के वनवासी होने पर और लक्ष्मण के शक्ति लगने पर फूट पड़ता है । राम के वनवासी होने पर शोक की गम्भीर छाया केवल मनुष्यों पर ही नहीं, पशु भी विरह की संतप्त अग्नि में जलते-जलते कृशगात होने लगे हैं । राम को रथ पर बिठाकर जो घोड़े चित्र-कूट जाने के हेतु थल से भी अधिक जल पर वायुवेग से भागने लगे थे, (राम

की कृपा और प्रेम के कारण) वे अब बार-बार सुमन्त के द्वारा चाबुक मारने पर भी थल पर नहीं चलते । बार-बार पीछे की ओर मुड़कर देखते हैं। घोड़ों की आकुलता का कितना सजीव चित्र है—

"देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं, जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं।
नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जल, मोचहिं लोचन बारि ॥"

घोड़ों की जब इतनी दयनीय दशा थी, तब पुरवासियों की विशेषकर कुटुम्बी जानों की क्या दशा होगी ?

वीर और बीभत्स रस का उद्गम स्थान तो मानो लंकाकाण्ड है । शिव धनुष के भंग होने पर चतुर्दिश जो आतंक छा जाता है उसमें भयानक रस की अनुभूति होती है —

"भरी भुवन घोर कठोर रव रविबाजि तजि मारगु चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोलि महि अहि कोल कूरम कलमले ॥"

तुलसीदास जी की अनुभूति की गहराई और व्यापकता इतनी अधिक है कि उनकी अभिव्यक्ति में वह भाव स्वतः सुन्दर और पुष्ट रूप में अभिव्यक्ति हो जाता है । हृदय के विविध भावों की जितनी गम्भीर व्यंजना तुलसी में मिलती है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है । तुलसी को काव्य के रूप में भावों को अभिव्यक्त करने की प्रेरणा राम-भक्ति से मिली थी । यह अनुभूति उनके ग्रन्थों में सर्वत्र परिलक्षित होती है । तुलसी ने राम-भक्ति में चातक प्रेम का ही ज्वलन्त उदाहरण लेकर अपने काव्य की सुषमा को उद्दीप्त किया है । उनका राम के प्रति यही अनन्य प्रेम है जो चकोर का चन्द्र के प्रति होता है । उन्होंने कहा भी है—

"रामचन्द्र चन्द्र तू ।
चकोर मोहि कीजै ॥"

तुलसी के अनुभूतिपक्ष की व्यंजना तो उनके काव्य ग्रंथों में अत्यन्त सुन्दर रूप में हुई है । इसके साथ-साथ बाह्य पक्ष अर्थात् अलंकार, गुण, छन्द आदि की गोष्ठी भी अपूर्व सफलता के साथ समाहित है । किसी [illegible]
उद्देश्य जीवन की व्याख्या करते हुए उसे किसी उच्च [illegible]

करना होता है । भावाभिव्यक्ति में जितनी सबलता और सरसता का आश्रय लिया जाय उतनी ही इस उद्देश्य में सिद्धि होती है। कला के इसी उद्देश्य ने गोस्वामी जी को संस्कृत का सुविख्यात विद्वान् होते हुए भी देववाणी की ममता को त्याग कर भाषा को अपनाने के लिए वाध्य किया । जो रामचरित-मानस की रामरसायन की धारा केवल पण्डित जनों के हृदय को रसाप्लावित कर रही थी वही अब राजा से ंक तक, सभी सन्तप्त संसार पथिकों की अग्नि को शान्त करती रहेगी । अतः उन्होंने भाषा को ही अपने ग्रंथों के हृदय का हार बनाकर संसार के हृदय का हार बना दिया । कविवर तुलसीदास जी जिस समय साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए उस समय तक अवधी में काव्य-रचना हो चुकी थी, क्योंकि सूफी कवियों ने उसमें अपनी प्रेम गाथाओं की रचना की थी। परन्तु यह अवधी का ग्रामीण रूप ही था, वह साहित्यिकता के सौष्ठव से कोसों दूर था। तुलसी ने अवधी में रामचरितमानस की रचना करके परिमार्जित और साहित्यिक रूप प्रदर्शित किया और संस्कृत की कोमल कान्त पदावली का समावेश कर अपूर्व माधुर्य गुण से सुशोभित किया । व्रज-भाषा में भी अत्यन्त सुन्दर रूप में सूरसागर का दृष्टिकोण तो सीमित था परन्तु 'मानस' में सम्पूर्ण जीवन को आलिंगित किया था, अतः 'मानस' का महत्त्व सूरसागर से कहीं अधिक है। तुलसीदास ने व्रजभाषा में 'गीतावली' 'कृष्ण-गीतावली', 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' की रचना कर अपनी प्रतिभा और काव्य-शक्ति का परिचय दिया है। कवितावली की व्रजभाषा इतनी परिष्कृत और समृद्ध है कि वैसी कृष्ण-काव्य के कवियों से भी नहीं बन पड़ी । भाषा भावों की सदा अनुगामिनी रहती है । भावों के अनुसार उसका रूप भी कर्कश और मधुर हो जाता है। मधुर भावों की व्यंजना में भाषा भी मधुर हो जाती है। यथा—कर्कश भावानुकूल भाषा—

"कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत ।।
चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
विकट कटक बिद्दरत बीर वारिद जिमि गज्जत ।।"

तथा मधुर भावानुकूल भाषा—

"कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि,
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं,
मनसा विश्व विजय कहँ कीन्हीं।"

इस प्रकार तुलसीदास जी की रचनाओं में भावों का प्रकाशन इतने कौशल से हुआ है कि उनमें प्रयत्न-प्रसूत अलंकारों की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनकी कविता कामिनी का रूप तो स्वाभाविक रूप से ही मोहक था तो फिर उसमें अलंकारों को जोड़ने की क्या आवश्यकता थी। सरल स्वाभाविक और विदग्धतापूर्ण वर्णन तुलसी की शैली की विशेषता है। उनकी प्रतिभा मूर्द्धन्य है। उसमें अलंकारों का समावेश स्वाभाविक रूप में हो जाता है। तुलसीदास ने एक कुशल कलाकार की भाँति अलंकार-रत्नों को सरलता से उठाकर काव्य में रख दिया है। उनका रखना नन्ददास के जड़ने से भी श्रेष्ठ है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय जी के अनुसार—"रामचरितमानस की कोई चौपाई भले ही बिना उपमा की मिल जाए, किन्तु उसका कोई पृष्ठ कठिनता से ही ऐसा मिलेगा, जिसमें किसी सुन्दर उपमा का प्रयोग न हो। उपमाएँ भी अमूल्य रत्न-राशि हैं।" जहाँ अर्थालंकारों से भाव व्यंजना को सहयोग प्राप्त हुआ है वहाँ शब्दालंकारों से भाव की सौंदर्य-वृद्धि हुई है। इनकी भाषा में माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण होने से भी काव्य-सुषमा में वृद्धि हुई है। छन्दों के प्रयोग में भी तुलसी ने भावों के उपयुक्त प्रकटीकरण की ओर पूर्ण ध्यान रखा है। रसानुकूल ही प्रायः उनकी छन्दयोजना हुई है। वीर, रौद्र आदि रसों की व्यंजना के लिए उसके उपयुक्त छप्पय छन्दों का, शृंगार के लिये सवैयों का तथा हृदय के लिए, मधुर भावों की व्यंजना के लिए गीतों का प्रयोग प्रायः तुलसी ने किया है।

इस प्रकार यह स्वतः स्पष्ट है कि तुलसी काव्य-कला के दोनों पक्षों में शीर्ष पर पहुँचे हुए हैं। काव्य में भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। इससे काव्य-कला चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है। तल्लीनता, रस-परिपाक, भाषा-सौन्दर्य, प्रबन्ध पटुता, अलंकारयोजना आदि

करना होता है । भावाभिव्यक्ति में जितनी सबलता और सरसता का आश्रय लिया जाय उतनी ही इस उद्देश्य में सिद्धि होती है। कला के इसी उद्देश्य ने गोस्वामी जी को संस्कृत का सुविख्यात विद्वान् होते हुए भी देववाणी की ममता को त्याग कर भाषा को अपनाने के लिए बाध्य किया । जो रामचरितमानस की रामरसायन की धारा केवल पण्डित जनों के हृदय को रसाप्लावित कर रही थी वही अब राजा से रंक तक, सभी सन्तप्त संसार पथिकों की अग्नि को शान्त करती रहेगी । अतः उन्होंने भाषा को ही अपने ग्रंथों के हृदय का हार बनाकर संसार के हृदय का हार बना दिया । कविवर तुलसीदास जी जिस समय साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए उस समय तक अवधी में काव्य-रचना हो चुकी थी, क्योंकि सूफी कवियों ने उसमें अपनी प्रेम गाथाओं की रचना की थी। परन्तु यह अवधी का ग्रामीण रूप ही था, वह साहित्यिकता के सौष्ठव से कोसों दूर था। तुलसी ने अवधी में रामचरितमानस की रचना करके परिमार्जित और साहित्यिक रूप प्रदर्शित किया और संस्कृत की कोमल कान्त पदावली का समावेश कर अपूर्व माधुर्य गुण से सुशोभित किया । ब्रज-भाषा में भी अत्यन्त सुन्दर रूप में सूरसागर का दृष्टिकोण तो सीमित था परन्तु 'मानस' में सम्पूर्ण जीवन को आलिंगित किया था, अतः 'मानस' का महत्त्व सूरसागर से कहीं अधिक है। तुलसीदास ने ब्रजभाषा में 'गीतावली' 'कृष्ण-गीतावली', 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' की रचना कर अपनी प्रतिभा और काव्य-शक्ति का परिचय दिया है। कवितावली की ब्रजभाषा इतनी परिष्कृत और समृद्ध है कि वैसी कृष्ण-काव्य के कवियों से भी नहीं बन पड़ी। भाषा भावों की सदा अनुगामिनी रहती है । भावों के अनुसार उसका रूप भी कर्कश और मधुर हो जाता है। मधुर भावों की व्यंजना में भाषा भी मधुर हो जाती है। यथा—कर्कश भावानुकूल भाषा—

> "कतहुं विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत ।
> कतहुं बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत ॥
> चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
> विकट कटक विद्दरत वीर वारिद जिमि गज्जत ॥"

तथा मधुर भावानुकूल भाषा—

"कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि,
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं,
मनसा विश्व विजय कहँ कीन्हीं।"

इस प्रकार तुलसीदास जी की रचनाओं में भावों का प्रकाशन इतने कौशल से हुआ है कि उनमें प्रयत्न-प्रसूत अलंकारों की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनकी कविता कामिनी का रूप तो स्वाभाविक रूप से ही मोहक था तो फिर उसमें अलंकारों को जोड़ने की क्या आवश्यकता थी। सरल स्वाभाविक और विदग्धतापूर्ण वर्णन तुलसी की शैली की विशेषता है। उनकी प्रतिभा मूर्द्धन्य है। उसमें अलंकारों का समावेश स्वाभाविक रूप में हो जाता है। तुलसीदास ने एक कुशल कलाकार की भाँति अलंकार-रत्नों को सरलता से उठाकर काव्य में रख दिया है। उनका रखना नन्ददास के जड़ने से भी श्रेष्ठ है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय जी के अनुसार—"रामचरितमानस की कोई चौपाई भले ही बिना उपमा की मिल जाए, किन्तु उसका कोई पृष्ठ कठिनता से ही ऐसा मिलेगा, जिसमें किसी सुन्दर उपमा का प्रयोग न हो। उपमाएँ भी अमूल्य रत्न-राशि हैं।" जहाँ अर्थालंकारों से भाव व्यंजना को सहयोग प्राप्त हुआ है वहाँ शब्दालंकारों से भाव की सौंदर्य-वृद्धि हुई है। इनकी भाषा में माधुर्य,ओज और प्रसाद गुण होने से भी काव्य-सुषमा में वृद्धि हुई है। छन्दों के प्रयोग में भी तुलसी ने भावों के उपयुक्त प्रकटीकरण की ओर पूर्ण ध्यान रखा है। रसानुकूल ही प्रायः उनकी छन्दयोजना हुई है। वीर, रौद्र आदि रसों की व्यंजना के लिए उसके उपयुक्त छप्पय छन्दों का, शृंगार के लिये सवैयों का तथा हृदय के लिए, मधुर भावों की व्यंजना के लिए गीतों का प्रयोग प्रायः तुलसी ने किया है।

इस प्रकार यह स्वतः स्पष्ट है कि तुलसी काव्य-कला के दोनों पक्षों में शीर्ष पर पहुँचे हुए हैं। काव्य में भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। इससे काव्य-कला चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है। तल्लीनता, रस-परिपाक, भाषा-सौन्दर्य, प्रबन्ध पटुता, अलंकारयोजना आदि जिस दृष्टि

से भी तुलसी को देखा जाय, सभी दशाओं में काव्य-सौन्दर्य का अन्यतम उत्कर्ष पाते हैं। उनकी अमर कृतियाँ केवल भारत में ही नहीं सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में समादृत हैं। वे हिन्दी के होकर केवल हिन्दुस्तान के ही नहीं रहे, वरन् अपनी कवित्व शक्ति की प्रतिभा से सम्पूर्ण विश्व के हृदय-हार हैं।

प्रश्न २०—सिद्ध कीजिये कि गोस्वामी जी केवल कवि ही नहीं समाज को उन्नत करने वाले महान लोकनायक भी थे।

संसार की महानतम आत्माएँ परिस्थिति-प्रसूत होती हैं। भगवान ने गीता में कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब धर्म के अभ्युत्थान के लिए, साधुओं के परित्राण के लिये और दुष्टात्माओं के विनाश के लिये मैं अवतार लिया करता हूँ।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार समाज व्यक्ति का अनुकरण करता है। बुद्ध भगवान् ने अपने समय की समस्याओं के दृष्टिकोण से उनको यथोचित रूप में समाज के समक्ष रखा और शंकराचार्य जी समाज को उसके पश्चात् अपनी ओर खींचकर ले गये। कर्मकाण्ड की चरम सीमा होने के कारण समाज विक्षुब्ध था। शूद्र पशुवत् जीवन-यापन कर रहे थे। समाज की इस दयनीय व चिन्तनीय परिस्थिति में बुद्धदेव अमर-ज्योति के रूप में प्रकाशित हुए और अपनी करुणा-पताका को फहराते हुए आये और सारा देश उनके पीछे चल दिया। निम्न वर्ग के लिए तो बुद्ध भगवान् का अवतरण मानो संजीवनी बूटी के समान हुआ। जन-जीवन में नवल-प्राण और उत्साह की लौ स्वयमेव उद्दीप्त होने लगी। बुद्धदेव ने संसार के प्रत्येक मानव को (रंक हो अथवा राजा) धर्म-रत्न को प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया और उसका सम्बन्ध जन-जीवन के साथ जोड़ा। मानव-मात्र के कल्याण के हेतु अपने धर्म-द्वार को उन्मुक्त किया, जिससे अन्धकारमय जीवन ज्योतिर्मय हो सके। बुद्धदेव महान लोकनायक थे। वे समन्वयकारी के रूप में अवतरित हुए और इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बुद्धदेव से पूर्व भी राम के समय में सम्पूर्ण प्रजा रावणादि अनेक राक्षसों के कारण संत्रस्त थी। प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि निरंकुश दस्यु राजाओं के शासनकाल में प्रजा में वितण्डावाद और उद्दाम

प्रवृत्तियों की प्रधानता होने के कारण हाहाकार मचा हुआ था। भगवान् राम ने तत्कालीन परिस्थितियों को हल करके प्रजा के समक्ष रखा और लोकरक्षण की भावना से निम्नतम जातियों का शिक्षा आदि के द्वारा उद्धार किया और समाज में सुख-शान्ति की स्थापना की। उधर कृष्ण के समय भी समाज कुवृत्तियों से विकम्पित था और समाज की अवस्था अत्यन्त दयनीय थी। कृष्ण ने प्रेम के गुण से उनकी विच्छिन्न शक्ति को एक सूत्र में पिरोकर कंस जैसे अत्याचारी और दम्भी राजा को दलित किया और सुखान्वेषण कर प्रजा में शान्ति स्थापित की। इस प्रकार गीता के काल में भी समन्वयकारी रूप स्पष्टतः लक्षित होता है।

महात्मा बुद्ध के समान तुलसी भी लोकरक्षण धर्म का पालन करने वाले थे। उनका भी समन्वयकारी रूप उनके प्रत्येक स्थल पर दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के पूर्व समाज की विषमावस्था थी, लोग धर्मतत्त्व को हृदयंगम न कर सकते थे, उसी प्रकार तुलसी के समय में भी भयानक और निस्तब्ध वातावरण के कारण जन-साधारण के हृदय-कमल मुरझा चुके थे। अतः उन्होंने भक्ति की अमृतमयी धारा बहाकर धार्मिक विद्वेष की अग्नि से जलते हुए हृदयों को शीतल किया। वास्तव में जिन जटिल परिस्थितियों में तुलसी ने अपने रंगमंच को विभूषित किया, उनको समन्वय, साधना और बलिदान के बल पर ही शान्त किया जा सकता था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तत्कालीन परिस्थितियों का अत्यन्त विशद वर्णन किया है—

"जिस युग में इनका (तुलसी का) जन्म हुआ था, उस युग में समाज के आगे कोई ऊँचा आदर्श नहीं था। समाज के उच्च स्तर के लोग विलासिता के पंक में उसी तरह मग्न थे जिस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व सूरदास ने देखा था। निम्न स्तर के लोग दरिद्र, अशिक्षित और रोगग्रस्त थे। वैराग्य धारण करना एक साधारण-सी बात थी। घर की सम्पत्ति नष्ट होने पर अथवा स्त्री की मृत्यु हो जाने पर संसार में कोई आकर्षण न होने पर संन्यास धारण कर लिया जाता था। 'अलख' की आवाज गर्म थी यद्यपि ये अलख लखने वाले कुछ भी नहीं लिख सकते थे। निम्न स्तर की कुछ जातियों में कई पहुँचे हुए महात्मा

गये थे जिनमें आत्म-विश्वास का संचार हो गया था, परन्तु शिक्षा और
ृति के अभाव में इसी आत्मविश्वास ने गर्व का रूप धारण कर लिया।
ज में धन की मर्यादा बढ़ रही थी। पंडितों और ज्ञानियों के साथ समाज
कोई सम्पर्क नहीं था। सम्पूर्ण देश विशृंखल, परस्पर विच्छिन्न आदर्शहीन
बिना लक्ष्य के हो रहा था। इस समय एक ऐसी आत्मा की आवश्यकता
जो इन परस्पर विच्छिन्न और दूर विभ्रष्ट टुकड़ों में योगसूत्र स्थापित कर
। तुलसीदास का आविर्भाव ऐसे ही समय में हुआ था।"

तुलसीदास ने धर्म में फैले सम्प्रदायों के नाड़ी चक्र को ध्यानपूर्वक देखा
उसके उपचार की सामग्री तैयार की। शिव के भक्त राम का विरोध
राम-भक्त शिव का विरोध करते थे। शैव और वैष्णवों का संघर्ष भी
सी के समय में दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था। तुलसी सच्चे लोकनायक
लोकरक्षक की भाँति उनके बीच की चौड़ी खाई को पाटने का प्रयत्न
लगे। आदर्श समन्वय करने वाले ग्रंथ 'रामचरितमानस' में तुलसी ने
तथा राम को निकट सम्पर्क में लाने का क्रान्तिकारी प्रयास किया है और
सिद्ध किया है कि दोनों एक ही शक्तियाँ हैं। "शिवद्रोही मम दास कहावा
नर सपनेहु मोहि न भावा" लिखकर तुलसी ने राम के
रविन्द से जो शिव की प्रशंसा करवाई है वह वास्तव में शिव और राम के
भाव की भावना को समूल नष्ट करने वाली है। केवल इस एक ही पंक्ति
परम्परा रूप से चले आते शैव और वैष्णवों के परस्पर विरोध को नाश
का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वास्तव में इन दो शक्तियों का एक ही
त में समन्वय महत्त्वपूर्ण है। तुलसीदास ने वैष्णव धर्म को इतना व्यापक
दिया है कि उसमें शैव, शाक्त और पुष्टिमार्गी सरलता से सम्मिलित
ये हैं। ज्ञान और भक्ति में उन्होंने विशेष अन्तर नहीं माना है। ज्ञान की
ा उन्होंने भक्ति को विशेष महत्त्व दिया है।

साहित्य सृजन में भी तुलसी ने लोकहित की भावना को प्रधानता दी
अपनी कला-कृतियों में भी उन्होंने भाषा के समन्वित और समस्त रूप
योग किया। जिस समय तुलसी ने साहित्य रचना के लिये अपनी

कतम उठाई उस समय तक केवल चारणकाल के वीर-गाथात्मक ग्रन्थ और प्रेम-काव्य तथा सन्त-काव्य के मुसलमानी प्रभाव से प्रभावित धार्मिक ग्रन्थ थे। इन सभी शैलियों के समन्वित रूप का तुलसी ने उपयोग किया है। चारणों की छप्पय शैली, कबीर आदि की दोहा शैली, जायसी की दोहा-चौपाई की शैली, विद्यापति, सूर आदि की पद-शैली और गंग आदि भाटों की कवित्त-शैली सभी का उनकी रचना में पूर्णतः समावेश है।

तुलसी ने मानस की रचना करने में भी साहित्य और धर्म की भाषा संस्कृत को छोड़कर जन भाषा को स्वीकार किया है। पण्डित लोग जन भाषा में साहित्य-सृजन करना अपमान समझते थे। जब उन्होंने तुलसी की धारणा को जाना कि उन्होंने जन भाषा में ही साहित्य की रचना करना स्वीकार किया है, तो ये इनके विरोध में खड़े हुए और उनकी जीवन-लता को ही समाप्त करने की भावना प्रकट की। परन्तु यह सच्चा लोकनायक लोकहित की भावना पर अटल रहा और भक्ति की उस अप्राप्य मणि को सबके लिए सुलभ कर दिया।

लोकेच्छा की भावना को ध्यान में रखकर तुलसी ने शृंगार में भी संयम से काम लिया है। वे मर्यादा की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। उनका दाम्पत्य प्रेम उद्दाम न होकर संयमित और मर्यादित है। शृंगार का जितना संयत और लोक-हितकारी रूप तुलसी में प्राप्त है, वैसा विश्व साहित्य में अन्यत्र नहीं। वे सीता को राम का दर्शन अंगूठी के नग के द्वारा कराते हैं। उनका दर्शन-मिलन कृष्ण की भाँति प्रत्यक्ष रूप में नहीं होता, वरन् उसमें भी मर्यादा की सीमा निर्धारित है। इसी प्रकार मार्ग में वे ग्राम बधुओं से कहलवाते हैं कि '**चितै तुम त्यों हमरो मन मोहै, ये साँवरे से सखि रावरे को है ?**' सीता का राम की ओर कटाक्षपात इस प्रश्न का उत्तर मर्यादा की परिधि में ही दे देता है।

परन्तु तुलसी से पूर्व कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया है उसमें मर्यादा की सीमा न रहकर संयम की परिधि से असीमित संयम और उच्छृंखलता की भावना दृष्टिगोचर होती है। सूर सरीखे भक्त-कवि ने

से माने जाते हैं। जिन हिन्दी साहित्य के कवियों ने भारतीय जनता को हिन्दू संस्कृति, सभ्यता और दार्शनिकता की ओर उन्मुख किया उनमें से सूरदास जी प्रमुख हैं। सूरदास जी ने 'सूरसागर', 'साहित्य लहरी', 'सूरसारावली' जैसे सुन्दर ग्रन्थों को देकर हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की।

भक्तवर सूरदास जी के जन्म-सम्वत्, स्थान आदि के विषय में बहुत अधिक किंवदन्तियाँ हैं। अतः हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि इनका जन्म कहाँ और कब हुआ। हाँ, जो किंवदन्तियाँ अधिक मान्य हैं उनके आधार पर इनका जन्म संवत् १५३५ में दिल्ली के निकट सीही ग्राम में हुआ था। इनका प्रारम्भिक जीवन किस प्रकार बीता, किस प्रकार शिक्षा-दीक्षा हुई यह कहना असम्भव है। हाँ, इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि ये साधु संगति में रहा करते थे। ईश्वर प्रदत्त योग्यता ने इन्हें भक्तश्रेष्ठ कविप्रवर बना दिया। जीवन के कटु अनुभवों से निराश होकर ये गऊघाट पर ही रहकर साधु जीवन व्यतीत करने लगे। संगीत से इन्हें रुचि थी ही अतः ये कृष्णभक्ति में मतवाले होकर प्रेम के गीत गाया करते थे। जब इनकी एक बार वल्लभाचार्य जी से भेंट हुई तो इन्होंने उन्हें अपनी दीनता से पूर्ण भक्ति का गीत सुनाया—वल्लभाचार्य ने इनसे कहा कि अगर आप वास्तव में ही सूर हैं तो फिर इस प्रकार दैन्य क्यों प्रकट करते हैं। तब से इन्होंने श्रीमद्भागवत के पदों को अपनी सुललित गेय वाणी में रूपान्तरित किया। सूरदास जी के जन्मांध होने और बाद में अंधे होने के विषय में भी विवाद हैं। भिन्न-भिन्न मत अपनी-अपनी मान्यता देकर अपने मत की पुष्टि करते हैं। अतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यह किंवदन्ती अवश्य है कि एक बार जब ये कुएँ में गिर गए थे तो कृष्ण ने इनको उसमें से निकाला था, और उस समय इन्होंने कहा था—

"बाँह छुड़ाये जात हौ निबल जानि के मोहि।
हिरदै ते जब जाहुगे सबल बखानौं तोहि॥"

सूरदास जी ने अपने सारे जीवन में कृष्ण भक्ति के पदों को ही गाया। उनकी ही लीला का गान किया। इनकी मृत्यु सम्वत् १६४६ में ही पार[illegible]ग्राम में हुई। कहते हैं कि अन्तिम क्षण तक भी ये गाते ही रहे थे।

ऐसे पदों की रचना की है जिसमें अश्लीलता की भावना भी लक्षित होती है—

"झूठे मोहि लगावत ग्वारी।
खेलत तें मोहि बोलि लियो है दोनों भुज भरि दीनी अंकवारी।
अपनें कुच मेरे कर धारत आपहुँ चोली फारी ॥"

तुलसी में इस प्रकार की अस्वाभाविक भावुकता नहीं है। उसमें समाज-हित के लिये समुचित मर्यादा का पालन किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने राम में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों का सामंजस्य स्थापित किया है। कृष्ण में केवल रूप ही निखर सका और वह भी विशृंखलता और असंयम की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने वाला हुआ। परन्तु राम का सौन्दर्य, शक्ति और शील मानव-समाज का कल्याण कर सका। सूर ने जहाँ शृंगार रस की धारा प्रवाहित की है और भक्तों के हृदय को प्रेम की विमल धारा में रस-स्नान कराया है, वहाँ तुलसी के 'मानस' में भक्त किसी भी रसधारा में अपनी रुचि के अनुसार अपनी पिपासा को तृप्त कर सकता है। उसमें नव-रसों की एक मधुर और सौन्दर्य-प्रदायिनी विमल धारा प्रवाहित हुई है।

तुलसीदास जी महान् स्रष्टा थे। साहित्य के लिये मानव-हृदय को जिस गहरी भावुकता की आवश्यकता है, वह उन्हें सहज-प्राप्त था। इसी कारण वे अन्तस्तल के भावों के कुशल चित्रकार हो सके। वे भावों के पुजारी थे और वह भावपूजा उन्हें राम के प्रति अनन्य विश्वास से प्राप्त हुई थी। उन का सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का, भक्ति और ज्ञान का, ब्राह्मण और चांडाल का तथा भाषा और संस्कृति का समन्वय 'रामचरितमानस' में आदि से अन्त तक मिलता है। माया के अन्धकार में पतित मानव 'रामचरितमानस' में अपनी जीवन-यात्रा के लिये वहाँ से प्रकाश और उत्साह ग्रहण करता है। आज तुलसी, कवि के नाते ही नहीं, वरन् लोकनायक के रूप में भी जन समाज के मन-मन्दिर के इष्टदेव हैं।

प्रश्न २१—महाकवि सूरदास का परिचय दीजिये।

महाकवि सूरदास जी हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल के प्रमुख कवियों में

से माने जाते हैं । जिन हिन्दी साहित्य के कवियों ने भारतीय जनता को हिन्दू संस्कृति, सभ्यता और दार्शनिकता की ओर उन्मुख किया उनमें से सूरदास जी प्रमुख हैं । सूरदास जी ने 'सूरसागर', 'साहित्य लहरी', 'सूरसारावली' जैसे सुन्दर ग्रन्थों को देकर हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की ।

भक्तवर सूरदास जी के जन्म-सम्वत्, स्थान आदि के विषय में बहुत अधिक किंवदन्तियाँ हैं । अतः हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि इनका जन्म कहाँ और कब हुआ । हाँ, जो किंवदन्तियाँ अधिक मान्य हैं उनके आधार पर इनका जन्म संवत् १५३५ में दिल्ली के निकट सीही ग्राम में हुआ था । इनका प्रारम्भिक जीवन किस प्रकार बीता, किस प्रकार शिक्षा-दीक्षा हुई यह कहना असम्भव है । हाँ, इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि ये साधु संगति में रहा करते थे । ईश्वर प्रदत्त योग्यता ने इन्हें भक्तश्रेष्ठ कविप्रवर बना दिया । जीवन के कटु अनुभवों से निराश होकर ये गऊघाट पर ही रहकर साधु जीवन व्यतीत करने लगे । संगीत से इन्हें रुचि थी ही अतः ये कृष्णभक्ति में मतवाले होकर प्रेम के गीत गाया करते थे । जब इनकी एक बार वल्लभाचार्य जी से भेंट हुई तो इन्होंने उन्हें अपनी दीनता से पूर्ण भक्ति का गीत सुनाया—वल्लभाचार्य ने इनसे कहा कि अगर आप वास्तव में ही सूर हैं तो फिर इस प्रकार दैन्य क्यों प्रकट करते हैं । तब से इन्होंने श्रीमद्‌भागवत के पदों को अपनी सुललित गेय वाणी में रूपान्तरित किया । सूरदास जी के जन्मांध होने और बाद में अंधे होने के विषय में भी विवाद हैं । भिन्न-भिन्न मत अपनी-अपनी मान्यता देकर अपने मत की पुष्टि करते हैं । अतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । यह किंवदन्ती अवश्य है कि एक बार जब ये कुएँ में गिर गए थे तो कृष्ण ने इनको उसमें से निकाला था, और उस समय इन्होंने कहा था—

> "बाँह छुड़ाये जात हौ निबल जानि के मोहि ।
> हिरदै ते जब जाहुगे सबल बखानौ तोहि ॥"

सूरदास जी ने अपने सारे जीवन में कृष्ण भक्ति के पदों को ही गाया । उनकी ही लीला का गान किया । इनकी मृत्यु सम्वत् १६४० में ही पारसौली ग्राम में हुई । कहते हैं कि अन्तिम क्षण तक भी ये गाते ही रहे थे ।

सूरदास जी भक्त होने के साथ-साथ श्रेष्ठ कवि भी थे। अतः इनके काव्य का काव्य पक्ष और भक्ति पक्ष बहुत श्रेष्ठ है। सूरदास जी की भक्ति का आधार कृष्ण की लीलाओं का गान करना और उसी में अपनी श्रद्धा-भक्ति और अनुराग के भावों का भरना था।

इन्होंने जीवन की समस्त अनुभूतियों को बटोरकर सच्चे हृदय से भगवान कृष्ण के चरणों में लीन हो कर जो कुछ भी कहा वह भारतीय भक्तों के लिए गर्व का विषय है। सूरदास की रचनाओं का मूल स्रोत श्रीमद्भावगत है। इन्होंने सभी भक्त हृदयों को श्याम रंग में निमज्जित कराया। नवधा भक्ति को अपनाकर स्मरण, कीर्तन, अर्चन, आत्मनिवेदन, दास्य, सख्य, वन्धन तथा माधुर्य भाव का वर्णन किया। प्रस्तुत पद में भक्त के दैन्य और आत्मसम्पर्ण का भाव है—

"मेरा मन अनत कहाँ सुख पावै,
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पै आवै।"

अथवा—"प्रभु हौं पतितन को टीको,
और पतित तौ द्यौस चारि के हौं तो जनमत ही कौ।"

इस प्रकार सूरदास जी के विनय के पद इनके दैन्य भाव को प्रकट करते हैं। वैष्णव सम्प्रदाय में भक्ति की सात भूमिकायें मानी जाती हैं—दैन्य, भर्त्सना, आत्मसमर्पण, मान विमर्षण, आश्वासना, मनोराज्य और विचारणा। सूरदास जी ने प्रायः सभी का वर्णन अपने भक्ति सम्बन्धी पदों में किया है।

सूरदास जी शुद्धाद्वैतवाद के पोषक थे। इनकी शुद्धा पुष्टि में विशेष रूप से आस्था थी जिसमें आत्मा, परमात्मा और प्रकृति में माया का कोई अस्तित्व नहीं।

भक्ति के क्षेत्र के अतिरिक्त इनका काव्य क्षेत्र भी बहुत समृद्ध है। इन्होंने कृष्ण के लोकरंजक रूप को अपनाकर उसके बाल तथा युवा रूप का वर्णन किया। वात्सल्य का वर्णन करने में सूरदास जी अपना उपमान नहीं रखते। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार सूरदास जी ने वात्सल्य रस का कोना-कोना झाँक रखा है। रूप वर्णन, कृष्ण की बाल सुलभ चेष्टाओं तथा उनकी क्रीड़ाओं

का वर्णन मनोहारी है । रूप वर्णन में केवल रूप को नहीं लेते बल्कि उनके आभूषणों, कठला, कंकण, तगड़ी आदि का भी वर्णन किया है । मातृ हृदय की अभिलाषाओं का तथा बालक की तोतली बोली, घुटनों के बल चलना, बाबा बाबा कहना आदि का वर्णन बड़ा स्वाभाविक है—

"घुटरुन चलत रेणु तन मंडित मुख दधि लेप किये ।"

अथवा—"कब मेरो लाल घुटरुवन रेंगे कब धरती पग टेक धरे ।"

इसके अतिरिक्त कृष्ण की केलि क्रीड़ा, माखनचोरी, वाक्पटुता का वर्णन इस प्रकार किया है कि अन्धे से इतनी आशा नहीं की जा सकती ।

वाक्पटुता और माखनचोरी उनके बाल-जीवन के प्रमुख प्रसंग थे । एक बार माखनचोरि कर रहे थे तो एक गोपी उसी समय पहुँच जाती है । देखिये उसे क्या कहकर छुट्टी पाते हैं—

"मैं जानों यह घर अपनो है या धोखे ते आयो,
देखत हौं गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो ।"

बुद्धिचातुर्य के साथ वाक्पटुता भी देखिए—

"तू मोहि को मारन सीखी दाऊहि कबहु न खीझै"

अथवा—"हौं बालक बहियन को छोटो छींकों किहि विधि पायो ।
ग्वाल-बाल सब बैर पड़े हैं बरबस मुख लपटायो ।"

इसके अतिरिक्त सूरदास जी ने कृष्ण के युवा रूप का चित्रण किया और वल्लभाचार्य के कहने के अनुसार परकीया का प्रेम वर्णन भी किया है । वियोग वर्णन के चित्र भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध हैं । कृष्ण मथुरा चले जाते हैं, गोपियों की स्थिति दयनीय हो जाती है । गोपी उद्धव सम्वाद में गोपियों का विरह ही अधिक प्रकट हुआ है । जैसे—

१. "ऊधव मन नाहिं हाथ हमारे,
"रथ चढ़ाय हरि संग गये लै मथुरा जबै सिधारे ।'

२. "ऊधो मन नाहीं दस बीस,
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधे ईश ।"

३. "ऊधो युवतिन ओर निहारो,
ता पाछे यह सिद्धि आपनी योग कथा विस्तारो ।"

इसके अतिरिक्त पशु-पक्षी और पौधों पर भी कृष्ण के वियोग का प्रभाव है। प्रकृति भी दुःखमयी है—

"नाचत नाहिं मोर ता दिन तैं बोले न वर्षाकाल ।
मृग दूबरे तुम्हारे दर्श बिनु सुनत न वेणु रसाल ॥

अथवा—"ये जो देखे राते-राते फूल न फूले डार ।"

संयोग और वियोग वर्णन के अतिरिक्त मुरली वर्णन मधुर प्रसंग है, जिसमें मुरली का महत्त्व आदि प्रदर्शित है।

सूरदास जी की दोनों कृतियाँ उस महत्ता तक न पहुँच सकीं जिस तक सूरसागर। सूरदास जी की भाषा व्रज है जिसका माधुर्य हिन्दी साहित्य के पाठकों तक तो क्या, विश्व साहित्य के पाठकों तक व्याप्त है। किसी ने कहा है —"तत्व-तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी ।"

किसी अन्य ने कहा है—

"किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर ।
किधौं सूर को पद लग्यो तन मन धुनत शरीर ॥

प्रश्न २२—सूर और तुलसी की तुलना कीजिए ।

अलंकार, छन्द, भाषा, गुण, वृत्ति, रीति आदि कविता कान्ता का बाहरी रूप [है] और रस तथा भाव उसका भीतरी स्वरूप। रस आत्मा है, भाव मन है, [भा]षा शरीर है. अलंकार आभूषण हैं, छन्द वस्त्रादि हैं। तुलसी और सूर की [तु]लना करते हुए हम इन्हीं बातों का ध्यान रखते हैं। भक्ति काल में तुलसी [औ]र सूर के अतिरिक्त दो और भी प्रभाव-प्रवर्तक कवि हिन्दी-साहित्य के [वि]स्तृत क्षेत्र में आए, किन्तु उन निर्गुण मार्गियों को उतनी सफलता न मिली। [का]रण स्वाभाविक था। निर्गुण कवियों ने भगवान का जो स्वरूप जनता के [सा]मने रखा वह चिन्तन का विषय अवश्य था, अशांति के समय में मुरझाये [म]न को हरा न कर सकता था। इसी हेतु कबीर और जायसी को वह ख्याति [क]भी प्राप्त न हो सकती थी जो सूर और तुलसी को मिली। यदि हम मधुरता

को ही श्रेष्ठता का लक्षण मानें तो निश्चय ही सूर तुलसी से ऊँचे हैं, उनकी कविता में मधुरता कूट-कूट कर भरी है। सूर स्वयं माधुर्य भाव के उपासक थे और दीनतापूर्ण जीवन त्यागकर ज्ञान चक्षुओं की सहायता से महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा दिखाये हुए उस मार्ग पर आए, जिस मार्ग में भगवान कृष्ण भगवती राधा और सौभाग्यशालिनी गोपियों के साथ नित्य वृन्दावन धाम में सदा स्वच्छन्द रासलीला किया करते हैं। कितना मधुर है रासमय रसिक जीवन! कितना व्यापक है भगवान का यह नित्य रास! अखिल प्रकृति के नये-नये क्रिया-कलाप! धन्य है वह मन-मयूर जो घनश्याम की उस रासलीला में साक्षी रूप से उपस्थित होकर उसका आनन्द लूटता है।

सूर ने भगवान् के सम्पूर्ण जीवन को अपने काव्य का विषय न बनाया, उन्होंने केवल उन्हीं स्थलों को चुना है जिनमें मधुरता और सौन्दर्य है, विवाद या रिक्तता नहीं। बाल्यकाल और यौवन कितने मनोहर हैं। कौन-सा है वह दुःखी व्यक्ति जो बालकों की नटखट क्रीड़ा को देखकर क्षणभर हँसने का प्रयत्न न करे। कितनी मधुरता होती है बालकों के लालन-पालन में—

"जसोदा हरि पालनैं झुलावैं।
मल्हरावै, हलरावै, हलावै, जोइ सोई कछु गावै।
मेरे लाल को आउ री निंनिया काहे न आनि सुवावै।"

कृष्ण कुछ बड़े होते हैं। यशोदा जब उनको स्नान कराना चाहती हैं तो वे रोने लगते हैं। तब माता का मधुर हृदय उबटन छिपाने को बाध्य होता है—

"जसुमति जबहि कह्यो अन्हवावत रोय गये हरि लोटत री।"

× × ×

मैं बलि जाउँ न्हाउ जनि मोहन कत रोवत बिन काजैं री।
पाछे धरि राखो छिपाई कै उबटन तेल समाजैं री।"

बालकों में पारस्परिक क्षोभ की भावना भी कितनी स्वाभाविक ... रहती है। एक दूसरे को चिढ़ाने में वह क्यों चुकने लगे। खेल... नर है। यदि कोई धनवान का पुत्र है तो उसका अर्थ यह ... उसकी धौंस में आकर उससे दाँव न लिया जाए—

"खेलत में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा बरबस ही कत करत रिसैयाँ।
अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।'

श्याम केवल साथियों के साथ ही नटखटी नहीं करते, वे पड़ोसियों को भी तंग कर डालते हैं। माखन, दधि चोरी में तो वे जगतप्रसिद्ध हैं और विशेषता तो यह है कि पकड़े जाने पर बहाना भी कैसा बना देते हैं—

"श्याम कहा चाहत से डोलत।
सूने विकट अंध्यारें मन्दिर दधि-भाजन में हाथ॥"

× × ×

"मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे ते आयो।
देखत ही गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो।"

तुलसी ने भी शैशव का वर्णन किया है, किन्तु उसमें यह बात नहीं। राम, अयोध्या के चक्रवर्ती महाराज के पुत्र थे, इनके जीवन में राज्यकुल की मर्यादा का पालन मिलेगा, कृष्ण जैसा विनोद और सबके साथ हिलमिल कर क्रीड़ा करना दिखाई नहीं पड़ता। माता-पिता तथा प्रजा शिशु के सद्गुणों से अवश्य सन्तुष्ट होते हैं; उनके सौन्दर्य, उनकी महिमा और अपने सौभाग्य पर अवश्य धन्य हो जाते हैं; किन्तु वहाँ न अन्य बालकों के समान स्वच्छन्द विहार है और न औरों के घरों में आकर नटखटी करना है। जो धर्म संस्थापनार्थ ही आया है वह झूठ क्यों बोलेगा और जो राजपुत्र हो उसे अन्य शिशुओं के साथ मिलकर दाँव देने और लेने की क्या आवश्यकता है? इसी भाँति यद्यपि तुलसी ने भी शिशु राम के वात्सल्य-चित्र बनाये हैं फिर भी वे चित्र कृष्ण के शैशव चित्रों के सामने ठहर नहीं पाते। सम्भव है तुलसी में क्षमता या सामर्थ्य तो रही होगी, परन्तु उनके नायक में अपने जीवन को सामान्य बना देने की शक्ति न थी। राम के प्रातरुत्थान का वर्णन देखिए—

"प्रात भयो, बलि मातु विधु बदन पर
मदन वारों कोटि उठो, प्रान प्यारे।"

सूत-मगध वन्दि वदत विरुदावलि
द्वार सिसु-अनुज, प्रियतम तिहारे।"

× × ×

"करतल गहि ललित चाप भञ्जन रिपु-निकरदाप,
कटितर पटपीत, तून सायक अनियारे।
उपवन मृगया विहार कारन गवने कृपाल,
जननी मुख निरखि पुन्य पुंज निज विचारे।"

यही राजकुल की मर्यादा का अक्षरशः पालन, सूत-मागधों का विरदावली से जगाना, फिर राजपुत्रों के साथ मृगया को जाना, इस बनावट में रस को कहाँ स्थान मिल सकता है? तुलसी ने कृष्ण गीतावली भी लिखी है, किन्तु उसमें शैशव का चित्र भले ही मिल जाता हो, सूर जैसी मधुरता नहीं मिलती। मानो सूर के पदों को सुनकर तुलसी ने लिखा हो—

"छांड़ो मेरे ललित ललन लरिकाई।
ऐहैं सुत देखवार कालि तेरे, बबै ब्याह की बात चलाई।
डरिहैं सासु ससुर चोरि सुनि हसिहैं नई दुलहनिया आई"

अस्तु! जहाँ तक वात्सल्य रस का सम्बन्ध है हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि तुलसी की भी पहुँच कम न थी, फिर भी वे सूर की समता न कर पाए हैं—न कर सकते थे। सूर ने उस रस में डूब कर इतने रत्न निकाले हैं कि औरों के हाथ सीपी और घोंघे ही पड़ सके।

अब तुलसी और सूर के शृंगार वर्णनों को देख लीजिए। शृंगार रस दो प्रकार का होता है—संयोग तथा वियोग। दोनों ही कवियों ने दोनों प्रकार के रसों का पर्याप्त वर्णन किया है। प्रेम का जैसा स्वाभाविक विकास, जो मधुर विस्तार और जितना करुण अन्त सूर ने दिखाया है, वैसा तुलसी ने नहीं। सूर ने यह दिखाया है कि प्रेम के अन्तर्गत कितने प्रकार की मनोदशायें होती हैं और तुलसी ने यह दिखाया है कि मनोदशाओं पर [illegible]कार संयम किया जा सकता है। सूर प्रेम का वर्णन करते हैं और

संयम का । राधा का श्याम से किस प्रकार प्रेम हो गया, यह एक म
प्रसंग है—

"खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
औचक ही देखो तहँ राधा नयन बिसाल, भाल दिए रोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझै, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥"

फिर क्या था "भोरी राधिका" को "रसिक सिरोमणि" की बातों में रस मिलने लगा; किन्तु उनमें कोई दुराव-छिपाव नहीं—कोई पाप नहीं। यशोदा जब उससे पूछती है तो वह स्पष्ट कह देती है—

"बार-बार तू ह्याँ जनि आवे।
\+ \+ \+
मैं का करौं सुतहिं नहीं बरजति, घर तें मोहि बुलावै।
मोसों कहत तोहि देखे बिनु, रहत न मेरो प्रान।"

दूसरी ओर "रामचरितमानस" में वर्णित राम और सीता के प्रेम का भी एक उदाहरण देखिए—

"देखि रूप लोचन ललचाने, हरषे जनु निज निधि पहचाने।
अधिक सनेह देह भइ भोरी, सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन मग रामहि उर आनि, दीने पलक कपाट सयानी।
जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानी, कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी।"

सीता में समझ है और संकोच है, राधा में भोलापन है और स्वाभाविकता है। एक प्रेम करती हुई भी छिपाती हैं और दूसरी अभी प्रेम तो नहीं करती किन्तु जो कुछ उसके मन का भाव है उसे प्रकट करने में डरती नहीं। राधा का प्रेम 'लरिकाई' का प्रेम है, जिसमें एक दूसरे के स्वभाव पर मोहित होकर एक दूसरे को हृदय समर्पित किया जाता है। सीता का प्रेम सामाजिक बन्धन है जिसका हृदय से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं।

संयोग शृंगार की ओर से भी सूर में जो स्वाभाविकता और रमणीयता है वह तुलसी में नहीं मिलती। तुलसी में मानो मर्यादा ही हृदय है और सूर में मानो हृदय ही मर्यादा है। तुलसी सामाजिक नियमों के खोखले अनुशासन के बाहर एक पग भी नहीं रख सकते; सूर हृदय को ही समाज का शासन मानते हैं।

संयोगावस्था में यदि मन में कोई वासना भी होती है तो वह वियोग के कठिन ताप से पिघलकर प्रेमियों के हृदय को स्वच्छ बना देती है। वियोग हमको आत्म-विश्लेषण का एक अवसर देता है और हमें कालुष्य शुद्धि के लिए प्रेरित करता है। राधा से कृष्ण का वियुक्त हो जाना एक ऐसा ही अवसर है; गोकुल और मथुरा या कुछ दिनों पीछे, गोकुल और द्वारिका का अन्तर ही कितना है! क्या राधा श्याम के पास स्वयं पहुँचकर अपने संतप्त हृदय को थोड़ा-सा समझा न सकती थी? उन्हें सीता निर्वासन के समान कोई दण्ड तो न मिला था और न उनको लोकप्रसारण की ही चिन्ता थी, फिर भी वह श्याम की पुरानी बातों का ध्यान करती हुई यहीं बनी रही। दिन-रात उसी ध्यान में मग्न रहना, सदा प्रिय के सामीप्य का अनुभव करना क्या किसी साधना से कम है? पुरानी बातों का स्मरण कितनी वेदना लेकर आता है। सन्ध्या हो रही है, गायें वन से लौट रही हैं, सूर्य छिप रहा है, ग्वाल लौट रहे हैं, सभी कुछ पूर्ववत् है, किन्तु आज श्याम की मंजुल ध्वनि नहीं सुनाई पड़ रही, कितनी व्याकुलता है—

"एहि बिरियां वन ते ब्रज आवते।
दुरहिं तें वह वेनु अधर धर बारम्बार बजावते॥"

ये ही पुरानी ऋतुएँ आती हैं, वही पुरानी स्मृति, वही पुराने हम हैं, किन्तु हमारे वे प्रियतम जो मिलने का वचन दे गये थे आज नहीं आए—अभी तक कोई सन्देश नहीं भेजा—

"बस ये बदराऊ बरसन आए।
अपनी अवधि जानि नन्द नन्दन गरजि गगन घन छाए।"

तुलसी के चरितनायक के जीवन में भी वियोग के कई अवसर आये हैं। सीता ने राम-विरह में जो सन्देश हनुमान द्वारा भेजा है उसमें दास्य भाव की गन्ध आती है, माधुर्य का रस नहीं मिलता। अपना प्रेम-सन्देश भेजते हुए भी सीता को ध्यान आ जाता है कि राम भगवान् हैं और सगुण लीला करने के लिए पृथ्वी पर आए हैं—

अधिक रखे गये हैं और प्रसाद गुण का सर्वत्र ध्यान रखा गया है—

"हमको सपने में हू सोच
मनो गुपाल आये घर मेरे, हँसी कर भुजा गही।
कहा करौं वैरिनि भई निदिया, निमिस न रौर रही॥

इस भाषा की अब तुलना की व्रजभाषा से कीजिये। संस्कृत की कोमल कान्त पदावली प्रायः समस्त पदों में झंकार भरी मधुरता का सृजन अवश्य करती है, किन्तु उसमें सूर की भाषा जैसी स्वाभाविकता नहीं है—

"भूषण वसन विलोकत सिय के।
प्रेम विवश मन, कंप पुलक तनु, नीरज नयन नीर भरे पिय के।"

केवल दो ही चरणों में कम से कम आठ संस्कृत के पद हैं। यहाँ तो समासों का अभाव है, किन्तु अन्यत्र समासों की भी छटा देखिए—

"राम कथा कलि-कैरव -चंदनि सुनत स्रवरद्दै भावहिं।
सरल सुखद रवि-कुंज-सरोज-रचि राम नृपहिं पहरावहिं।"

'विनयपत्रिका' में तो मानो कुछ पद संस्कृत में ही लिखे गये हैं—

"उरसि वनमाल सुविशाल,
नवमंजरी भ्राज श्रीवत्स लाँछन उदारम।
परम ब्रह्म राम अति धन्य गतमन्यु,
अज अमित बल विपुल महिमा अपारम।"

अस्तु, सूर की भाषा में संस्कृत की कोमल-कान्त-पदावली का वह माधुर्य नहीं जो तुलसी के विनय के पदों में मिलता है। सूर में माधुर्य है अवश्य किन्तु व्रजभाषा की ग्रामीणता का और तुलसी में है संस्कृत पदावली की। और सूर ने तो अपने को केवल व्रज तक ही सीमित रखा है, तुलसी ने जिस सफलता से व्रज को अपनाया उसी सफलता से अवधी को भी। इस प्रकार तुलसी का भाषाओं पर असाधारण अधिकार था। उनकी बराबरी हिन्दी में और कवि-सूर भी नहीं कर सकता। वे व्रजभाषा के लिखने में सूर के समान और कुछ बातों में उनसे बढ़कर तथा अवधी लिखने में जायसी के समान और कुछ बातों में उनसे बढ़ कर थे।

यद्यपि तुलसी और सूर में से एक को भी अलंकारों से उस अर्थ में प्रेम न था जिस अर्थ में केशव को था, फिर भी दोनों ही आवश्यक अलंकारों का सर्वदा प्रयोग करते हैं। शब्दालंकारों के पीछे पड़कर उन्होंने रीतिकाल के कवियों में अपना नाम न लिखवाया फिर भी रूपक, उपमा तथा उत्प्रेक्षा आदि का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग मिलता है।

"रामचरितमानस" के बालकाण्ड में तुलसी ने अलंकारों में प्रधान अलंकार रूपक और उपमा से बड़ा स्नेह दिखाया है। अनेक ऐसे सांग रूपक हैं जिनकी समता के लिये हिन्दी में और कुछ है ही नहीं। गीतावली में परम सुन्दर रूपक भी मिल जाते हैं—

"बाल विनोद-मोद-मंजुल-विधु, लीला-ललित जुन्हैया।
भूपति पुन्य-पयोधि उमंगि घर-घर आनन्द बधैया।"

"सन्देह,, अलंकार के भी हमको सुन्दर उदाहरण मिलते हैं—

"श्यामल गोर किशोर पथिक दोउ सुमुखि निरकु भरि नैन।,,

× × ×

"मानहु रति ऋतु नाम सहित मुदि वेप बनाये हैं मैन॥
किधौं सिंगार-सुखमा सुप्रेम मिलिचले मग जग चित-वित लैन।
अद्भुत त्रयी किधौं पठई है विधि मग खोगन्ह सुख दैन।"

सूर ने भी अपने 'सागर' में अलंकार का चोखा रूप दिखाया है। सादृश्य-मूलक अलंकारों में उत्प्रेक्षा और रूपक तो सर्वत्र देखने को मिलते हैं—

"देखियत कालिन्दी अति कारी।
अहो पथिक कहियो उन हरि सों, भई विरह ज्वर जारी।
मनु पर्यङ्क तें परि धरनि धुकि, तरंग तलफ तन भारी।
तटबारु-उपचार चूर्ण, जल मानो प्रसेद पनारी।
विगलित कच कुस कास पुलिन पर पंकजु काजल सारी।"

शुद्ध उत्प्रेक्षा के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं—

"देखियत चहुं दिसि ते घन घोरे।
मानो मत्त मदन के हथियनु बलकरि बन्धन तोरे।"

श्याम सुभग तनु सुभ्रत गंड मद, बरसत थोरे-थोरे ।
रुकत न पौन महावत हू मुरत न अंकुस मोरे।"

कृष्ण की शोभा का वर्णन करते हुए सूर ने न जाने कितनी अलंकार सामग्री का प्रयोग किया है । रूपक और उत्प्रेक्षा या सन्देह ये ही उनके प्रिय अलंकार हैं—

'देखि सखी अधरन की लाली ।
मनि मरकत ते सुभिग्रकलेवर ऐसे हैं वनमाली ।
मनो प्रात की घटा साँवरी तापर अरुण प्रकास ।
ज्यों दामिनि बिच चमकि रहत है फहरत पीत सुवास ।
किधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि जुगफल बिम्ब सुपगयौं ।

इस भाँति हम देखते हैं कि सूर का अधिकार विशेषतः शुद्ध अलंकारों पर है और तुलसी अनेक अलंकारों के अपूर्व प्रयोग में सिद्धहस्त हैं। वस्तुतः रामचरितमानस में सभी अलंकारों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं ।

छन्दों की दृष्टि से, प्रत्येक पाठक जानता है कि सूर का क्षेत्र इतना सीमित है कि यदि उनमें तन्मयता न होती तो वे कभी भी तुलसी के सामने नहीं ठहर पाते । सूर ने केवल पद लिखे हैं और तुलसी ने उस समय तक प्रचलित सभी छन्द । किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना पड़ेगा कि पद-शैली में जितनी राग-रागिनियाँ मधुरता में काम आ सकती हैं वे सब सूर में हैं । तुलसी ने अनेक छन्दों का प्रयोग अवश्य किया है, किन्तु इस अर्थ में नहीं कि जिस अर्थ में केशव ने अपनी "रामचन्द्रिका" में प्रतिज्ञा की है । अस्तु, सूर में जिस भाँति, भाषा, अलंकार, रस आदि के विषय में तन्मयता के कारण संकीर्णता है, वैसे ही छन्दों में भी ।

जहाँ रस, भाषा आदि की संकीर्णता होती है वहाँ प्रकृति-चित्र अधिक हुआ करता है । सूर के विषय में भी यह बात ठीक है। [illegible] ने भी प्रकृति पर अपनी व्यापक दृष्टि डाली है, फिर भी [illegible] समाज पर था, सूर में हम इसका उल्टा पाते हैं । उनके [illegible] मय कात भी वही होता है जब उनके नायक

राधा के और गोपियों के साथ रास-क्रीड़ा करते हैं, चन्द्र और नक्षत्र भी स
कर इस आनन्द को लूटना चाहते हैं, सूर के इस व्यापक प्रकृति-चित्रण का ए
मुख्य आधार उनके दार्शनिक विचार भी हैं।

इस भाँति देखते हैं कि तुलसी और सूर हिन्दी के दो अद्वितीय रत्न हैं,
एक का स्थान दूसरा नहीं ले सकता। दो भिन्न दृष्टिकोणों को लेकर वे अपना
संदेश सुनाते हैं। अपने-अपने क्षेत्र में उनका अपूर्व स्थान है।

प्रश्न २३—अष्टछाप से क्या तात्पर्य है—यह स्पष्ट करते हुए अष्टछाप के कवियों का परिचय दीजिए।

कृष्ण-भक्ति-शाखा श्री निम्बार्काचार्य, श्री मध्वाचार्य, श्री विष्णु स्वामी,
श्री वल्लभाचार्य, श्री चैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्तों से अनुप्राणित थी। वल्लभा-
चार्य का कृष्ण-भक्ति-शाखा पर सबसे अधिक प्रभाव रहा। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों
पर अनुभाष्य लिखा था और श्रीमद्भागवत पर सुबोधिनी टीका लिखी थी।
इनके दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध हैं और इनकी उपासना-
पद्धति पुष्टिमार्गी कहलाती है। पुष्टि भगवान के अनुग्रह को कहते हैं। इनके
उपास्य नवनीत प्रिय गोपाल बालकृष्ण हैं। ये लोग अपने पुरुषार्थ की अपेक्षा
भगवान के अनुग्रह को ही अधिक महत्त्व देते हैं।

व्रज में पुष्टि मार्ग का व्यापक प्रभाव पड़ा और उस सम्प्रदाय में दीक्षित
बहुत से महानुभावों ने अपनी भावनाओं को काव्य-लहरी से प्रभावित किया।
महाप्रभु वल्लभाचार्य के सुपुत्र विट्ठलनाथ जी ने निम्नलिखित आठ कवियों
को चुनकर उन पर प्रामाणिकता की मोहर लगा दी। उनमें से पहले चार कवि
महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे तथा शेष कवि गोस्वामी विट्ठलनाथ जी
के। इन कवियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) सूरदास (२) कुम्भनदास
(३) परमानन्ददास (४) कृष्णदास (५) छीत स्वामी (६) गोविन्द स्वामी (७)
चतुर्भुजदास (८) नन्ददास।

सूरदास—महात्मा सूरदास के जन्मस्थान, जन्म-तिथि और जाति के
विषय में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। किन्हीं के अनुसार उनका जन्म
सम्वत् १५२६ है तो किन्हीं के अनुसार उनका जन्म सम्वत् १५४० माना जाता

हैं । इसी प्रकार कुछ विद्वान् उनका जन्मस्थान सीही ग्राम (देहली के पास मानते हैं तो कुछ के विचार में उनका जन्मस्थान रुनकता गाँव (रेणुका क्षेत्र, आगरा और मथुरा के बीच) है । ये किसी के मत से सारस्वत ब्राह्मण थे तथा अन्य विद्वानों की सम्मति में चन्दवरदाई के वंशज स्वीकार किये जाते हैं ।

जनश्रुति के अनुसार सूरदास जन्मान्ध थे । किन्तु इस पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि सूरदास की कविता में विविध रंगों, भाव-भंगिमाओं और भिन्न-भिन्न प्राकृतिक वस्तुओं एवं दृश्यों का जैसा सफल चित्रण हुआ है वैसा एक चक्षु विहीन व्यक्ति के लिए कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है ।

प्रसिद्ध किंवदन्ती है कि सूरदास गऊघाट पर भगवत् भजन करते थे । यहीं पर इनकी वल्लभाचार्य से भेंट हुई । इस समय सूरदास दास्य भाव से भगवत् यश गाया करते थे किन्तु वल्लभाचार्य से दीक्षित होने के पश्चात् इन्होंने सख्य भाव से कृष्ण की भक्ति प्रारम्भ की क्योंकि वल्लभाचार्य दास्य भाव की भक्ति को ठीक नहीं समझते थे । अतएव हमें सूरदास की रचनाओं में दोनों प्रकार की भक्ति के उदाहरण मिलते हैं ।

सूरसागर इनकी प्रसिद्ध रचना है । वल्लभाचार्य के आज्ञानुसार इन्होंने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध को गीतों में गाया है । उन्हीं का संकलन सूरसागर है । श्रीमद्भागवत के समान सूरसागर में भी १२ अध्याय हैं, किन्तु यह श्रीमद्भागवत का अविकल अनुवाद नहीं है । यद्यपि सूरसागर बृहदाकार ग्रन्थ है, किन्तु है मुक्तक ही । सूर की स्वयं भी ऐसी इच्छा प्रतीत होती है अर्थात् वे 'सागर' को एक प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा मुक्तक के रूप में देखना पसन्द करते थे । इस वृहद् ग्रन्थ में सूर कृष्ण का चरित्र नहीं लिख रहे हैं, [illegible] उनकी भक्ति में लीन होकर उनके चरणों पर अपने स्नेह संवलित [illegible] अर्पित कर रहे हैं ।

सूरसारावली और साहित्यलहरी सूरदास की दो और [illegible] सूरसारावली तो सूरसागर की सूचीमात्र समझिए । [illegible] के दृष्टिकूट पद संकलित हैं ।

सूरदास ने पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पश्चात् माधुर्य एवं सख्य भाव की भक्ति को अपनाया और श्रीकृष्ण एवं उनकी शक्ति राधा की प्रेममयी मूर्ति को अपनाकर शृंगारी विषयों की रचना की है। पदावली, रासलीला, भ्रमरगीत और जुगलमान चरित्र आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनकी कविता साधारण-सी प्रतीत होती है।

परमानन्ददास—ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। संवत् १५५० में कन्नौज में इनका जन्म हुआ। ये बड़ी मधुर कविता करते थे। सुनते हैं एक बार इनका एक पद सुनकर श्री वल्लभ जी कई दिवस तक अपने शरीर की सुध भुले रहे। इनके मुक्तक पदों का संग्रह परमानन्दसागर में मिलता है।

कुम्भनदास—ये जाति के क्षत्रिय थे और गोवर्धन के पास के ही एक ग्राम के निवासी थे। इनका जन्म संवत् १५२५ में हुआ। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि चतुर्भुजदास इनके पुत्र थे। ये कृषि का अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करते थे और प्रतिग्रह के विरोधी थे। दानलीला और पदावली दो ग्रंथ इनके प्रसिद्ध हैं। ये दोनों पुस्तकें गीतिकाव्य हैं। एक बार अकबर बादशाह के बुलाने पर इनको फतेहपुर सीकरी जाना पड़ा, परन्तु इस बात का उन्हें बहुत दुःख था जैसा कि निम्नलिखित पद से प्रकट है—

"सन्तन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरिनाम।
जिनको मुख देखत दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिनु, और सबै बेकाम।"

चतुर्भुजदास—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है ये कुम्भनदास जी के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १५६७ में हुआ। इनकी भाषा बड़ी सुन्दर एवं सुव्यवस्थित है। दानशीलता, भक्ति प्रताप आदि छः पुस्तकें इन्होंने लिखी थीं। ये सब गीतिकाव्य हैं।

छीत स्वामी—ये चतुर्वेदी (चौबे) ब्राह्मण थे। संवत् १५७२ में मथुरा में इनका जन्म हुआ। विट्ठलनाथ जी से दीक्षा लेने से पहले इन्हें अशिष्ट पुरुषों की संगति थी। दानलीला, कुन्ज लीला और बधाई आदि में अपने समस्त

हार्दिक अनुराग के साथ उनके रूप, सौन्दर्य, तिरछी चितवन एवं विविध भाव-भंगिमियों तथा क्रिया-कलापों का इन्होंने वर्णन किया है ।

नन्ददास—इनका जन्म संवत् १५६० और मृत्यु सवत् १६३५ मानी जाती है। इनकी कविता बड़ी सरस और मधुर है । इन्होंने अनुप्रास युक्त संस्कृत मिश्रित ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। अतः प्रसिद्ध है—'सब कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया ।' ये सूरदास के समकालीन थे और काव्य की दृष्टि से अष्टछाप के कवियों में सूरदास के बाद इनका नाम आता है । इन्होंने निम्नलिखित ग्रंथों का प्रणयन किया है—

भंवरगीत, रासपंचाध्यायी, अनेकार्थ नाममाला, रुक्मिणी मंगल, हितोपदेश, दशमस्कन्ध भागवत, दानलीला, मानलीला, ज्ञानमंजरी, अनेकार्थ मंजरी, रूप मंजरी, नाम मंजरी, नाम चिंतामणि आदि । नन्ददास की प्रसिद्धि हुई भंवरगीत और रासपंचाध्यायी के कारण।

कृष्णदास—इनका जन्म गुजरात में अहमदाबाद के पास सं० १५५४ के लगभग हुआ । ये जाति से शूद्र थे, परन्तु श्रीवल्लभ की कृपा से मन्दिर के प्रधान थे, बीरबल ने इनको कारागार में भेज दिया, परन्तु आचार्य के अनुरोध से इन्हें मुक्ति मिली और फिर मन्दिर के प्रधान बना दिए गए । इन्होंने राधा-कृष्ण विषयक प्रसिद्ध पुस्तकें लिखी है, जो सब गेय हैं। अष्टछाप के अन्य कवियों के समान शृंगार के अतिरिक्त इनके पदों में ब्रजभूमि के प्रति प्रेम भी व्यक्त हुआ है।

गोविन्दस्वामी—इनका जन्म भरतपुर राज्य में संवत् १५६२ में हुआ। ये स्थायी रूप से महावन रहते थे । १५६२ में इन्होंने स्वामी विट्ठलदास से दीक्षा ली । गोवर्धन पर इनकी लगाई हुई 'कदंबखंडी' अभी तक प्रसिद्ध है । ये बड़े अच्छे गायक थे । जनश्रुति है कि प्रसिद्ध गायक तानसेन इनका गाना सुनने आया करते थे ।

प्रश्न २४—रीतिकाल की विभिन्न परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए।

रीतिकाल का समय संवत् १७०० से सं० १६०० तक माना जाता है। रीतिकाल की सम्पूर्ण परिस्थितियों का विवेचन करने से यह स्पष्ट ज्ञात हो

जाता है कि उस समय देश की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थितियाँ बड़ी शोचनीय अवस्था में थीं। सम्पूर्ण देश में आतंक और विभीपिका का जो साम्राज्य छाया हुआ था, वह अब अपेक्षाकृत कम हो गया था। मुगलों का शासन पूर्णतः भारत में स्थापित होने के कारण आक्रमणों की बाढ़ रुक चुकी थी और अब जनता शान्ति और आनन्दप्रिय होने लगी। इस समय बादशाह शाहजहाँ भारत के राजसिंहासन पर आसीन था। उत्कर्ष के चरम बिंदु के उपरान्त यहीं से निगति का आरम्भ हो गया। पुनः समस्त देश विप्लवों और युद्धों के काले-काले मेघों से आच्छादित हो गया। शाहजहाँ के बीमार पड़ने पर उसके पुत्रों में उत्तराधिकार के लिए कलह मच गई और केन्द्रीय शासन निर्बल हो गया। मुगल साम्राज्य की विराट गरिमा के नष्ट हो जाने से राजनीति पतन के गर्त्त में जा पड़ी। अत्याचारी औरंगजेब भी झट से अपने भाइयों को मारकर भारत के सिंहासन पर आसीन तो अवश्य हुआ, परन्तु वह भी एक सफल राजनीतिज्ञ नहीं था। सारा साम्राज्य औरंगजेब के अत्याचारों को विस्फारित नेत्रों से देख रहा था। उधर जयपुर पर अधिकार कर लेने पर मारवाड़ और मेवाड़ मुगलों के विरुद्ध हो गये थे। परन्तु अभी तक औरंगजेब का हठी व्यक्तित्व धुरी के समान समस्त साम्राज्य को सम्भाले हुए था। इधर १७६४ में औरंगजेब की मृत्यु हो गई। मृत्यु के पश्चात् समस्त राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। औरंगजेब के अहंवाद के कारण उसके पुत्रों का व्यक्तित्व निर्जीव-सा हो गया था। उसके सभी उत्तराधिकारी कर्मचारियों के हाथ की कठपुतली थे। बस इसी समय भयंकर बाह्य आक्रमणों से देश में हाहाकार मच गया। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने मुगल साम्राज्य की गिरती दीवारों को क्षण भर में धराशायी कर दिया। उधर पानीपत की पराजय से देश का शेष नैतिक बल भी नष्ट हो गया। इस प्रकार केन्द्रीय शासन के दुर्बल हो जाने पर भिन्न-भिन्न प्रांतों के अधिपति स्वतन्त्र होने लग गए थे और उनमें ईर्ष्या-द्वेष का ताण्डव नर्तन हो रहा था। राज्य के उत्तराधिकारियों के विलासप्रिय होने के कारण शासन-विधान की बागडोर बिल्कुल ढीली पड़ती जा रही थी। हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक विधि-विधानों के भेद-

भाव ईर्ष्या-द्वेष की पूर्ण हद तक पहुँच चुका था। फलतः हिन्दू-मुसलमानों में भेद-भाव की तीव्री चेतना जागृत हो गई थी। दोनों पक्ष निर्बल पड़ते जा रहे थे। हिन्दू पद-दलित थे और मुसलमान विलासिता में आपाद मस्तक मग्न।

सामाजिक परिस्थिति—इस समय सामाजिक स्थिति भी दयनीय थी। उस समय सारा समाज आर्थिक और राजनैतिक दृष्टि से दो भागों में बँटा हुआ था—एक उत्पादक-वर्ग और दूसरा भोक्ता-वर्ग। उत्पादक-वर्ग में कृषक समुदाय और श्रमजीवी थे जो शासन तथा युद्ध सम्बन्धी कार्यों से सर्वथा पृथक् रहते थे और सरकार को कर देते थे। भोक्ता वर्ग में सम्राट् के परिवार और दरबार से लेकर उनके दास, नौकर-चाकर आदि सभी इसी में आते हैं। विशेषतः इनकी सामाजिक स्थिति श्रेष्ठतर थी। इनमें और उनमें शोषक-शोषित का सम्बन्ध था। तीसरा वर्ग उन विद्वानों का था जो राजाओं के आश्रय में रहकर जीवन-यापन करते थे। कवि और विशिष्ट कलाकार इसी वर्ग में आते हैं। शाहजहाँ के पश्चात् यह राजकीय आश्रय भी बन्द हो गया था और इससे इनकी सामाजिक स्थिति बहुत कुछ गिर गई थी। उस समय मुगल परिवार और दरबार अखण्ड वैभव और ऐश्वर्य से जगमग था। सम्पूर्ण मुगल परिवार रत्नों और मणियों में क्रीड़ा कर रहा था तथा नगर रमणीक सरोवरों, सुवासित उद्यानों से सुशोभित था। वैभव की 'अति' पर पहुँचने पर विलासिता का सागर उमड़ना स्वाभाविक ही था। सुरा और अन्य मादक वस्तुओं का प्रयोग उस समय भयंकर व्यसन था। राजाओं के महलों में शृंगारिकता का नग्न नृत्य होता था। सैनिक शिविरों में वेश्याओं का जमाव था और सेनापति का कार्य कामदेव के हाथ में था। पद्माकर का यह छन्द उस समय की एक झाँकी दिखाता है—

> "गुलगुली गिल में गलीचा हैं, गुणीजन हैं, चाँदनी है,
> चिक है, चिरागन की माला है।
> कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा है सजी सेज है,
> सुराही है, सुरा है और प्याला है।"

इसके बिल्कुल विपरीत ही श्रमिक वर्ग की अवस्था थी

करते हुए, आधे पेट भोजन खाये हुए सहायता के लिए पुकारते थे, परन्तु शायद ईश्वर ही उनके कष्टों को सुन सकता था। उस समय के प्रासाद उनकी हड्डियों पर खड़े हुए थे और उनके आँसू और उनके रक्त की बूँदें ही जमकर अमीरों के मोती और लालों का रूप धारण कर लेती थीं। इस वर्ग में अधिकतर किसान लोग ही थे जो त्राहि-त्राहि कर उठे थे। राजनीतिक पतन के कारण जातीय संगठन का हिन्दू-मुसलमानों में छिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक था। उनमें धार्मिक दम्भ, ईर्ष्या, भेदभाव अग्नि की लपटों के समान तीव्र होता जा रहा था। इस प्रकार राजनीतिक और सामाजिक पतन के फलस्वरूप नैतिक अधोगति भी स्वाभाविक थी। विलासिता से जर्जर होकर मुसलमान नैतिक बल खो चुके थे और हिन्दू युग-युग से पदाक्रान्त थे।

धार्मिक परिस्थिति—राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक पतन तो हो ही चुका था। परन्तु उनसे भी दयनीय अवस्था धर्म की थी। उस समय हिन्दू और मुस्लिम धर्म के अनुयायियों में तीन वर्ग हो गये थे। पहला वर्ग वह था जिसमें विद्वान् और पण्डित लोग शास्त्र-विहित धर्म का अध्ययन और अनुसरण करते थे। ये लोग अपने धर्म-ग्रन्थों की आज्ञाओं का पालन अक्षरशः करते थे और उनकी वाणी को देववाणी मानते थे। हिन्दू सम्प्रदायों में इस समय मुख्यतः वैष्णव धर्म की शाखा उपशाखाओं का प्रचार था और उनमें भी कृष्ण-भक्ति की प्रवृत्ति विशेष रूप से प्रचलित थी। इस शाखा के अनेक सम्प्रदायों ने जनता में जाकर धर्म का प्रचार नहीं किया और राजसी ठाठ-बाट के वातावरण में रहकर उनकी साधना, तत्त्व चिन्तन सभी अवरुद्ध हो गया था। दूसरा वर्ग अशिक्षित जनसमुदाय का वर्ग था। ये अन्धविश्वासी होकर भक्ति के बाह्याङ्गों, तीर्थ स्थान आदि तक सीमित रहते थे। फिर भी ये लोग रामकीर्तन तथा प्रतिवर्ष रासलीला और रामलीला नियमित रूप से मनाते थे। सूर और मीरा के पदों का गान होता था, परन्तु इससे क्या भगवन् दर्शन होते हैं। तीसरा वर्ग उदार वर्ग था जिसका उद्देश्य हिन्दू और मुसलमान के भेदभाव को हटाकर उन्हें एक आधार पर संयुक्त करना था। ये लोग निर्गुण सन्तों की परम्परा के अनुयायी थे। ये मूर्तिपूजा, पर्व, रोजा, नमाज, व्रत आदि की अवहेलना कर

आत्मशुद्धि को ही मुक्ति की साधना मानते थे। इन्होंने प्रेम मार्ग को पार करने के लिए गुरु को पथ-प्रदर्शक के रूप में स्वीकार किया है। सन्तों ने हिन्दुओं के योग और सूफियों के प्रेम की भावना ग्रहण कर एक सामान्य मार्ग चलाया है। इसका प्रभाव विशेषतः उपेक्षित जनता पर था। पीछे इनमें भी वैभव की पिपासा जाग्रत हो गई। इस समय तक मानव का बौद्धिक विकास भी नष्ट-प्राय हो चुका था। व्यक्तित्व के विकास के लिए इनके पास कोई साधन न था। दासता की बेड़ियों ने उनके नैतिक पतन के साथ-साथ बौद्धिक प्रतिभा का भी ह्रास कर दिया था। मुगल वैभव के युग में कलाओं की समृद्धि भी पूर्ण रूप से थी। ललित और उपयोगी दोनों प्रकार की कलाएँ उन्नत थीं, स्थापत्य कला, चित्रकला और संगीत कला अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची हुई थी। उस समय की अभूतपूर्व स्थापत्यकला ताजमहल और दीवाने खास हैं जो वास्तव में कलात्मक समृद्धि में अपरिमेय हैं। ताजमहल मूर्ति कला की कृति और दीवाने खास चित्र-कला की अनुपम कृति है। औरंगजेब ललित कलाओं को जीवन का पतन समझता था। इसी कारण उसने धार्मिक जोश में आकर कई स्थापत्य कला के अभूतपूर्व मंदिरों आदि को धराशायी कर दिया था। इस बादशाह के पश्चात् मुगलों के पास इतना धन ही न था कि वे इस कला की उन्नति कर सकते।

जहाँगीर युग चित्रकला का स्वर्ण युग था। मुगल चित्रकला में स्वाभाविकता, गति और सजीवता का सुन्दर समावेश था। पर्सी ब्राउन ने तो कहा है कि मुगल चित्रकारी की आत्मा जहाँगीर के साथ ही मर गई। इस सम्राट के रंगीन व्यक्तित्व का माध्यम वास्तव में चित्र ही था। पुष्पों, पल्लवों, पक्षियों आदि से समन्वित सुन्दर चित्रकारी की गई है। अठारहवीं शताब्दी में आकर इस कला का ह्रास होने लगा। उन चित्रों में सजीवता के स्थान पर कृत्रिमता आने लगी। औरंगजेब के काल से ही इस कला का भी अधःपतन होना प्रारम्भ हो गया था।

अन्य कलाओं की भाँति संगीत कला भी मौलिक रूप में नहीं मिलती। शाहजहाँ के समय में संगीत की अच्छी अभिवृद्धि हुई और तानसेन जैसे संगीतज्ञ भी हुए। परन्तु औरंगजेब के युग में संगीत भी अत्याचार की शृंखलाओं में

जकड़ गया। औरंगजेब ने इस कला का सर्वथा बहिष्कार कर दिया, जिससे उसका पूर्णतः विकेन्द्रीकरण हो गया।

प्रश्न २५—रीतिकाल की विभिन्न प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिये।

हिन्दी साहित्य में रीति का प्रयोग लक्षण-ग्रन्थों के लिए किया जाता है; जिन ग्रन्थों में काव्यों के विभिन्न अंगों का विश्लेषण होता है उन्हें रीति-ग्रन्थ और जिस विधान के अनुसार होता है उन्हें रीति-शास्त्र कहते हैं। जब काव्य की रचना इन विधानों व नियमों से आबद्ध हो तब वह रीति काव्य होता है।

रीति-काव्य का विकास प्रायः राजाओं और रईसों के आश्रय में हुआ है। अतः उसकी अन्तःप्रेरणा और स्वरूप का आश्रयदाताओं और कवियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस समय सम्पूर्ण देश का वातावरण विलासपूर्ण था और रास-लीलाओं में डुबकियाँ लगा रहा था। राजाओं और रईसों को चिन्ता और संघर्ष कम और अवकाश एवं विकास कहीं अधिक था। सुवाला, सुराही और प्याला साथ-साथ कविता की तानतुक इन लोगों के विनोद की रसाला ही नहीं, वरन् बौद्धिक विकास भी था। अपनी संस्कृति को समृद्धिशाली बनाने के लिए काव्य का रसास्वादन परमावश्यक समझा जाता था। उनके व्यक्तित्व में कलात्मक वृत्ति और संस्कृति का विकास ये सभी गुण समाविष्ट हो जाते थे।

रीतिकाल के कवियों की प्रवृत्ति साहित्य के सृजन और परिशोधन में लगी रहती थी। मानो उन्हें यह अभिरुचि पैतृक परम्परा के रूप में प्राप्त हुई हो। कवि लोग साधारण समाज से सम्बन्धित होते हुए भी काव्य-कला के बल पर बड़े-बड़े राजाओं से सम्मानित होते थे। वस्तुतः बात यह है कि रीति-काव्य में कवि की आत्मा उसके काव्य में बोलती हुई दिखाई नहीं देती, उसमें वस्तु तत्त्व कम है और कला अधिक है। इस प्रकार रीति-काव्य सर्वथा स्वतन्त्र था और राजनीतिक, सामाजिक एवं नैतिक सुधार की भावना कहीं लक्षित नहीं होती थी। इस काल में मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ संचरण करती हुई दिखाई देती हैं—आचार्यत्व अथवा रीति निरूपण और शृंगारिकता।

हिन्दी कवि रीति-विवेचन का उचित स्पष्टीकरण करने में असफल हुए हैं। इस विफलता में अवश्य ही कुछ कारण स्पष्टतः लक्षित होते हैं। एक तो यह

द्वितीय श्रेणी में वे ग्रन्थ आते हैं जिनका वर्ण्य-विषय शृंगार ही है। केश की रसिकप्रिया, मतिराम का रसराज, देव के भाव-विलास, भवानी-विलास, सुजा विनोद आदि, पद्माकर का जगत्विनोद, बेनीप्रवीन का नव-रस-तरंग शृंगारि प्रवृत्ति के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस परम्परा का आदि रूप रुद्रभट्ट के शृंगार तिलक और भानुदत्त की रसतरंगिणी और रसमंजरी में मिलता है। इन ग्रन्थों में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का उत्कृष्ट वर्णन हुआ है। संयोग वर्णन में नायक, नायिका, सखी, दूती, षट्ऋतु, विभाव, अनुभाव और सात्विक भाव आदि का बड़े मनोनिवेश के साथ वर्णन किया है। इसी प्रकार वियोग पक्ष की सूक्ष्मतर भावनाओं, दशाओं और प्रवृत्तियों का वर्णन किया है। शृंगार वर्णन में नायिका भेद की उद्भावना बड़ी प्रबल है। वास्तव में रीतिकालीन वातावरण का सच्चा प्रतिबिम्ब इन कवियों की ही रचनाएँ हैं। तत्कालीन प्रवृत्तियों का पूर्ण प्रतिनिधित्व इन्हीं कवियों में मिलता है।

तीसरी शैली चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुकरण पर अलंकार निरूपण शैली है। अत्यन्त प्रतिष्ठित ग्रन्थ महाराज जसवन्तसिंह का भाषा-भूषण है। इसमें सर्वप्रथम अलंकार का लक्षण और उदाहरण दिया गया है। इसी अनुकरण पर हिन्दी में अनेक उपयोगी ग्रंथों का निर्माण हुआ है। सुरति मिश्र की अलंकारमाला, भूपति का कण्ठाभरण, ऋषिनाथ का अलंकार-मणि-मञ्जरी आदि रीतिकाल के उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। हिन्दी अलंकार ग्रन्थों में शब्दालंकारों का महत्त्व अर्थालंकारों की अपेक्षा कम है। पद्माकर आदि अनुप्रास-प्रिय कवियों की दृष्टि भी इस अलंकार पर नहीं रही। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इनका झुकाव अर्थ-गांभीर्य की ओर ही अधिक है। वास्तव में इन अलंकार ग्रन्थों का उद्गम चन्द्रालोक से हुआ था जिसमें अनुप्रास आदि शब्दालंकारों की अवहेलना की गई है। परन्तु हिन्दी की चमत्कार-प्रियता की सीमा यहाँ तक पहुँच चुकी थी इसका अनुमान सूरदास की साहित्यलहरी से हो सकता है।

नैतिक आदर्शों की दृष्टि से रीतिकाल में काम-वासनाओं की प्रवृत्ति बल पाकर ही बढ़ रही थी। इस काल में प्रेम की अतीन्द्रियता को साधन बनाकर उसे

उज्ज्वलता से सर्वथा विहीन कर दिया है। इसी से रीतिकाल में प्रेम एकोन्मुखी और भावना प्रधान है तथा काम-क्रीड़ा अथवा विलास उपभोगप्रधन और उपभोग की वस्तु है। इस विषय के और काल के प्रमुख कवि मतिराम, बिहारी, पद्माकर आदि सब रसिक शिरोमणि तो थे परन्तु प्रेमी कवि नहीं। इस प्रेम में कहीं भी आध्यात्मिकता का आरोप नहीं है। इस प्रेम का स्वरूप सर्वत्र गार्हस्थिक है क्योंकि रीति-काव्य भारतीय शृंगारपरम्परा का ही विकसित रूप है। इसमें एक ओर वेश्या की विलासिता का अभाव है और दूसरी ओर उसमें बलिदान की भावना का भी अभाव है। उसमें सरलता एवं छटा अधिक है पर आत्मा की पुकार और प्रेम की सच्ची अनुभूति की एक टीस का अभाव है—

"होत रहै मन यों मतिराम, कहुँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु, ह्वै मुरली अधरा रस पीजै॥
× × ×
पैर जहाँ जहाँ वह बाल तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिवेनी।"

इस प्रकार शृंगारिकता के अविरल और तीव्र प्रवाह से रीतिकाल में आकर धर्म भी धर्माभास मात्र रह गया था। इन्द्रिय-सुख और भोग में आपाद-चूड़ मग्न होते हुए भी इन कवियों के हृदय में राधा-कृष्ण की तन-द्युति पर अनुराग था—

"तजि तीरथ हरि राधिका, तन-द्युति कर अनुराग।
जिहिं ब्रज-केलि निकुञ्ज मग, पग पग होत प्रयाग॥"

यह भक्ति उनकी शृंगारिकता का अंग बन गई थी। जीवन के अतिशय राग में मग्न होकर जब ये लोग थककर चुप हो जाते तो राधा-कृष्ण का अनुराग इनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन देता था। भक्ति एक ओर सामाजिक और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में रक्षा करती था।

इस प्रकार रीतिकालीन सामाजिक और काव्य-जीवन में भक्ति का आभास आवश्यकतानुसार किया गया है और नायक-नायिका को 'हरि' 'राधिका' के नाम से पुकारा है।

नन्ददास कृत 'रस मंजरी' भी नायिका भेद विषयक रचना है ।

सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही रस, रीति और अलंकार के लक्षण ग्रन्थों का निर्माण विशेष रूप से होने लगा था । गोपा कवि ने 'राम भूषण' और 'अलंकार चन्द्रिका' नामक ग्रंथ लिखे । सं० १६१६ में मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगार सागर' की रचना की । इसके पश्चात् करनेस बन्दीजन ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूप-भूषण' नामक अलंकार ग्रंथों का प्रणयन किया ।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य की रीति-परिपाटी गिरती-पड़ती किसी-न-किसी रूप में आरम्भ से ही चल रही थी । किन्तु अभी कोई ऐसा आचार्य नहीं हुआ था जिसके व्यक्तित्व से उसे बल प्राप्त होता । कृपाराम की 'हित तरंगिणी' यद्यपि एक विशुद्ध रीति ग्रंथ था, परन्तु एक तो उसका क्षेत्र केवल नायिका भेद तक ही सीमित था, दूसरे कृपाराम के व्यक्तित्व में इतनी शक्ति न थी कि वे रीति परम्परा को काव्य की अन्य प्रचलित परम्पराओं के समक्ष प्रतिष्ठित कर सकते । यह कार्य आचार्य केशव ने किया । केशव हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य रीति के प्रति सजग होकर उसके विभिन्न अंगोपांगों का गम्भीर पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया ।

केशव चमत्कार को मानने वाले आलंकारिक सिद्धान्त पर आस्था रखते । अतः सिद्धान्त वाक्य के रूप में उनका यह दोहा प्रसिद्ध है—

"जदपि सुजाति सुलच्छणी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त ॥"

और व्यावहारिक रूप में अलंकारों के प्रति अनावश्यक मोह, दोनों उन्हें ामह, दण्डी इत्यादि अलंकारवादियों की कोटि में रखते हैं; परन्तु आचार्य की िसक प्रिया' रस और नायिका भेद का प्रौढ़ ग्रन्थ है । यदि हम 'रसिक ़िया' को देखें तो हमें आचार्य को रसवादी कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी ाहिए । केशव ने शृंगार को रसराज माना है । उन्होंने बड़ी तन्मयता के ाथ नायिका के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों का वर्णन किया है । वस्तुतः केशव ने र्वध्वनि और उत्तरध्वनि दोनों सम्प्रदायों की विचारधाराओं को हिन्दी में वतरित किया । आलोचकप्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार "भामह

और उद्भट के समय में अलंकार और अलंकार्य का स्पष्ट भेद नहीं हुआ था रस, रीति, अलंकार सबके लिए ही 'अलंकार' शब्द का व्यवहार होता था। यही बात हम केशव की 'कवि प्रिया' में पाते हैं।" इसमें सन्देह नहीं कि केशव की 'कवि प्रिया' में अलंकार और अलंकार्य में अभेद स्थापित करने वाली पूर्वध्वनि काल की विचारधारा की अभिव्यक्ति है। शृंगार को रसराज मानने वाली 'रसिक प्रिया' पर उत्तर ध्वनि काल की सिद्धान्त परम्परा का गहरा प्रभाव है। स्पष्ट है कि केशव हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र की पूर्व ध्वनि तथा उत्तर ध्वनि दोनों परम्पराओं का प्रतिनिधित्व किया।

आचार्य शुक्ल का मत है कि सन्देह नहीं कि काव्य रीति का सम्यक् समावेश हिन्दी में सर्वप्रथम केशव ने किया। परन्तु रीति ग्रन्थों की अविरल धारा और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कवि प्रिया' के लगभग ५० वर्ष बाद चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर। केशव के पश्चात् रीति-ग्रन्थों की अखंड परम्परा चिन्तामणि से चली। जिसका आधार भामह, दण्डी इत्यादि न होकर 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'काव्य प्रकाश', 'साहित्य दर्पण' आदि थे।

शुक्ल जी की उपर्युक्त शंकाओं का समाधान किए बिना हम केशव को हिन्दी रीति परम्परा का प्रवर्तक आचार्य घोषित नहीं कर सकते। उनकी दो शंकाएँ हैं। एक तो यह कि केशव के परवर्ती आचार्यों ने 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' को अपनी रचनाओं का आधार बनाया। दूसरे, रीति ग्रन्थों की अविरल धारा केशव के ५० वर्ष बाद चिन्तामणि से आरम्भ हुई। इसमें सन्देह नहीं कि 'कवि प्रिया' के रचयिता केशव चमत्कारवादी आलंकारिक सिद्धान्त के पक्षपाती थे। किन्तु इन्होंने अपने सिद्धान्त वाक्य सम्बन्धी दोहों में कविता का रसयुक्त होना आवश्यक माना है। रस कविता का आवश्यक अंग है। इस बात को उन्होंने कहीं भी अस्वीकार नहीं किया बल्कि अपने ग्रन्थ 'रसिक प्रिया' में उन्होंने कविता में रस का प्रतिपादन किया है। अतएव केशव को कोरा अलंकारवादी समझना [illegible] दृष्टिकोण है, जो आचार्य के प्रति सरासर अन्याय है। हम [illegible]

है कि केशव की 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' क्रमशः पूर्वध्वनि सम्प्रदाय और उत्तरध्वनि सम्प्रदाय को अपने में समाहित किए हुए हैं । फिर भी केशव के परवर्ती आचार्यों ने ऐसे कौन से अभिनव सिद्धान्तों का अनुसरण किया जिनका केशव में अभाव है। वस्तुतः 'चन्द्रालोक' के रचयिता जयदेव तो केशव से भी अधिक अलंकारवादी थे । उनका यह दृष्टिकोण निम्न श्लोक से स्पष्ट हो जाता है—

"अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृति ।
असौ न मन्यते कस्मादुष्णमनलंकृति ॥" (चन्द्रालोक)

केशव के परवर्ती आचार्यों ने चन्द्रालोक को अपने ग्रन्थों का आधार बनाया है।

केशव का युग सूर और तुलसी के सर्वव्यापी प्रभाव से आक्रान्त था । इसलिए केशव के बाद अनेक वर्षों तक रीति परम्परा में बल नहीं आ पाया । चिंतामणि के आगमन तक उसे जन-रुचि का संबल प्राप्त हो चुका था। बस तभी से यह धारा शतसहस्रमुखी होकर बहने लगी । चिंतामणि का महत्त्व केवल आकस्मिक और संयोगजन्य है । यह एक संयोग मात्र ही तो था कि परिस्थिति और जनरुचि उनके अनुरूप हो गई और रीति ग्रंथों का तांता-सा बँध गया । अतएव युग प्रवर्त्तन का गौरव चिंतामणि को किसी प्रकार भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि परवर्ती रीति-कवियों में से किसी ने भी उनका इस रूप में स्मरण नहीं किया। यह गौरव उन्होंने केशव को ही दिया। वास्तव में केशव इसके अधिकारी भी हैं, क्योंकि उन्होंने बड़े मनोयोगपूर्वक संस्कृत रीतिशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में अवतरित किया और अपने व्यवहार में भी उसे वांछित महत्त्व दिया। कौन उद्भट और कौन दण्डी के सिद्धान्तों का अनुयायी है और कौन जयदेव, आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ का अनुवर्ती है। यह कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं, क्योंकि हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों का काव्य सिद्धान्त विवेचन इतना गहन और विस्तृत है ही नहीं कि उन्हें किसी विशेष सम्प्रदाय का समर्थक माना जाए।

प्रश्न २७—हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य पर संस्कृत साहित्य के प्रभाव की समीक्षा कीजिए।

हिन्दी साहित्य संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक ऋणी है। यद्यपि संस्कृत और हिन्दी के मध्य पाली, प्राकृत और अपभ्रंश की धारा दीर्घकाल तक प्रवाहित होती रही किन्तु हिन्दी ने इन तीनों के प्रवाह को इतना ग्रहण नहीं किया जितना संस्कृत साहित्य के प्रभाव को ग्रहण किया। हिन्दी के आरम्भिक काल में अपभ्रंश और प्राकृतों का प्रभाव अवश्य दीखता है किन्तु उसके पश्चात् के सभी युगों में संस्कृत साहित्य का ही विशेष प्रभाव लक्षित होता है। भक्तिकाल में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास ने तो "नाना पुराण निगमागम सम्मतं यत् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि" लिखकर यह स्पष्ट ही कर दिया है कि उन्होंने अपनी काव्य रचना संस्कृत की पृष्ठभूमि पर की। सूर का काव्य श्रीमद्भागवत पर आधारित है, केशव महान कवि बाणभट्ट के ऋणी हैं और गाथासप्तशती और आर्या सप्तशती आदि ग्रन्थों के द्वारा प्रभावित दिखाई देते हैं। विशेषतः रीति ग्रंथ संस्कृत के साहित्य शास्त्र को आधार बनाकर ही लिखे गये हैं। रीतिकाल से पूर्व हमारे यहाँ सृजनात्मक साहित्य की रचना हुई। प्रत्येक साहित्य में ऐसा ही होता है कि पहले सृजनात्मक साहित्य रचा जाता है उसके पश्चात् लक्षण ग्रन्थ अथवा आलोचनात्मक ग्रंथों की बारी आती है। जिस प्रकार हमारा सृजनात्मक साहित्य संस्कृत के प्रभाव से अछूता न बच सका उसी प्रकार, अपितु उससे भी कहीं अधिक संस्कृत साहित्य का प्रभाव हिन्दी के लक्षण ग्रन्थों पर पड़ा। इसका मुख्य कारण यह है कि संस्कृत साहित्य में काव्यशास्त्र का विकास इतना अधिक हो चुका था कि हिन्दी के आचार्य बनने के इच्छुक व्यक्ति को मौलिक सामग्री का उपलब्ध होना सम्भव ही नहीं दीखता था।

संस्कृत साहित्य का काव्यशास्त्र अनेक समुदायों के रूप में प्रस्फुटित हुआ। रीतिकालीन लक्षण ग्रंथ लिखने वालों ने अपनी रुचि के अनुसार उनमें से किसी एक सम्प्रदाय अथवा एकाधिक सम्प्रदाय से प्रभावित होकर अपने लक्षण ग्रंथ लिखे। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख पाँच सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों और उनके प्रवर्तक एवं पोषक आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—

सम्प्रदाय	आचार्य
१. अलंकार सम्प्रदाय	भामह, दण्डी आदि
२. वक्रोक्ति सम्प्रदाय	कुन्तल या कुन्तक ।
३. रीति सम्प्रदाय	वामन ।
४. ध्वनि सम्प्रदाय	आनन्दवर्द्धन तथा ध्वनिकार ।
५. रस सम्प्रदाय	भरतमुनि तथा विश्वनाथ ।

अब इन सम्प्रदायों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जायगा ।

अलंकार सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के पोषक अलंकारों को ही काव्य की आत्मा मानते हैं । उनके अनुसार काव्य में अलंकारों का प्रयोग होना अनिवार्य है । दण्डी ने अलंकारों को ही काव्य की शोभा का कारण मानते हुए कहा—

"काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते ।"

इस बात को भामह ने इस प्रकार कहा है—

"न कान्तमपि निर्भूषणम् विभाति वनितामुखम् ।" अर्थात् सुन्दर होते हुए भी आभूषणों के बिना वनिता का मुख शोभा नहीं देता । चन्द्रालोककार जयदेव ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि कोई काव्य को अलंकाररहित मानता है तो वह अग्नि को उष्णताहीन क्यों नहीं मान लेता—

अंगीकरोति यः काव्य शब्दार्थाव नलंकृति ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृति ॥

वस्तुतः उपर्युक्त श्लोक द्वारा जयदेव ने मम्मटाचार्य की दी हुई काव्य की परिभाषा में आये हुए 'अनलंकृति पुनः क्वापि' वाक्यांश पर व्यंग्य कसा है क्योंकि उनके विचार में अलंकारों के अभाव में काव्य रचना हो ही नहीं सकती । दण्डी के परवर्ती आचार्य उद्भट और रुद्रट ने भी इसी सम्प्रदाय की मान्यता का समर्थन किया । इन आचार्यों के अनुसार ध्वनि, वक्रोक्ति और रसादि गौण हैं एवं ओज, माधुर्य और प्रसाद आदि गुण भी अलंकार हैं । अलंकार के इस सम्प्रदाय ने अंतिम रस को दण्डी की भाँति रसवत् अलंकार के अन्तर्गत मानकर कान्ति गुण के सम्बन्ध में उनका उल्लेख किया है । शब्दों के प्रयोग के अनुसार तीन रीतियाँ मानी गई हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली । अलंकारों को

भी आचार्य वामन ने सौन्दर्य के व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुए कह
सौन्दर्यमलंकारः ।'

४. ध्वनि सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के आचार्य 'ध्वन्यालोक' के रच
ध्वनिकार एवं आनन्दवर्धन माने जाते हैं । ध्वनिकार के विचार में 'काव्य
आत्मा ध्वनिरिति' अर्थात् ध्वनि ही काव्य की आत्मा है । 'ध्वन्यालोक
अनुसार सत्काव्य में जो चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ होता है, वही ध्वनि है अथ
वाच्य से अधिक रमणीय व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं । यह ध्वनि तीन प्रक
होती है—रस ध्वनि, अलंकार ध्वनि और वस्तु ध्वनि । रस को रस-ध्वनि
और अलंकार को अलंकार ध्वनि के अन्तर्गत मानकर इस संप्रदाय के आचार्यों
ने अलंकार व रस सम्प्रदाय से अपना सम्बन्ध जोड़ा है और यह कहकर कि
'जिस काव्य में रससिद्धि नहीं होती वह निष्प्रयोजन है' काव्य में रस
के महत्व को स्वीकार किया है । वस्तुतः यह सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय के लगभग
ही लोकप्रिय हुआ है । मुक्तक काव्य के मूल्यांकन में इनको विशेष स्थान
मिला क्योंकि स्फुट पद्यों में ऐसा रस-परिपाक नहीं होता जैसा कि प्रबन्धान्त-
र्गत पद्यों में अथवा नाटकों में ।

५. रस सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय का साहित्य में व्यापक प्रभाव रहा है ।
इसके मूल प्रवर्त्तक नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि हैं । उन्होंने ही सर्वप्रथम
रस विवेचन करते हुए कहा कि "विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रस-
निष्पत्तिः ।" अग्निपुराणकार ने इस को महत्व देते हुए कहा है कि, "वाग्वै-
दग्ध्यप्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम् ।" आचार्य मम्मट ने यद्यपि काव्य की
परिभाषा में रस का उल्लेख नहीं किया है तथापि जिन तीन चीजों का
प, गुण और अलंकार का जो उल्लेख किया है उन सबको रस के ही
श्रित कर दिया है । आचार्य विश्वनाथ ने भी रस-युक्त वाक्य को ही काव्य
ा है, "रसात्मकं वाक्यं काव्यं ।"

रस को कवि, काव्य और पाठक तीनों ने ही समान महत्व दिया है ।
प्रभाव है, तरलता है, गति है । यह कवि के गम्भीर हृदय के स्रोत से
होकर कृति के रूप में प्रवाहित होता हुआ पाठक के हृदय को आप्ला-

वित करता है । अतएव अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि ये सब ही सचेतन रस के सौन्दर्य के साधन हैं।

हमारे हिंदी साहित्य में जब रीतिकाल का आरम्भ हुआ तब तक संस्कृत-साहित्य में उक्त सभी सम्प्रदाय बन चुके थे । इनमें से 'ध्वनि' सम्प्रदाय प्रधान माना गया है । 'रीति' और 'वक्रोक्ति' सम्प्रदाय तो अधिक जीवित भी न रह सके । इस प्रकार हिन्दी के रीति कवियों के सम्मुख तीन काव्य सम्प्रदाय थे—'ध्वनि', 'रस' और 'अलंकार'।

'ध्वनि' सम्प्रदाय के रीतिकालीन विवेचकों में से कुलपति, श्रीपति, दास और बिहारी प्रमुख हैं । बिहारी ने यद्यपि कोई लक्षण ग्रंथ नहीं लिखा परन्तु उनकी प्रवृत्ति ध्वनिवाद के अनुकूल थी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस काल में 'रस' की विवेचना मतिराम, देव, रसलीन, वेनीप्रवीन जैसे कवि आचार्य और घनानन्द, ठाकुर तथा नेवाज आदि कवियों ने की। अपने काल की परिस्थितियों के अनुकूल इस रस मीमांसा में शृंगार रस की ही प्रधानता रही, अन्य रसों का तो केवल स्पर्श मात्र ही हुआ ।

अलंकार सम्प्रदाय का प्रभाव रीतिकालीन काव्य पर गहरे और विस्तृत रूप से पड़ा है । आचार्य केशव, राजा जसवन्तसिंह, उत्तमचन्द भण्डारी और [illegible] कवि अलंकारों के विशेष प्रेमी थे। इस प्रकार रीतिकाल में संस्कृत के [illegible] काव्य सम्प्रदायों में से 'ध्वनि', 'रस' और 'अलंकार' सम्प्रदायों का विशेष प्रभाव रहा। इनमें से भी 'रस' का प्रभाव सर्वाधिक था।

यहाँ तक तो हुआ विषय की दृष्टि से संस्कृत साहित्य का रीतिकालीन साहित्य पर प्रभाव—शैली की दृष्टि से भी हिन्दी के रीतिग्रंथों पर संस्कृत साहित्य का बहुत प्रभाव पड़ा है। इस काल में संस्कृत के अनुकरण पर तीन प्रकार की शैलियों को लेकर ग्रन्थ रचे गए—

१. मम्मट के 'काव्य प्रकाश' की निरूपण शैली के आधार पर सेनापति का 'काव्य-कल्पद्रुम', चिंतामणि का 'काव्यविवेक' और 'काव्यकुल-कल्पतरु', कुलपति मिश्र का 'रस-रहस्य', देव का 'काव्य रसायन', श्रीपति का 'काव्य सरोज' और प्रतापसिंह का 'काव्य विलास' आदि लिखे गये।

२. रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' और भानुदत्त की 'रसमंजरी' को आधार-भूत मानकर केशव की 'रसिकप्रिया', मतिराम का 'रसराज', देव का 'भाव-विलास' और 'रस विलास', पद्माकर का 'जगद्विनोद', दास का 'रस निर्णय' और बेनीप्रवीन का 'नवरस तरंग' आदि ग्रंथ लिखे गए।

३. जयदेव के 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' की संक्षिप्त अलंकार निरूपण शैली के आधार पर इस काल में मतिराम ने 'ललित-ललाम' जसवन्तसिंह ने 'भाषा-भूषण', पद्माकर ने 'पद्माभरण', भूपति ने 'कंठा-भूषण', दलपतिराय ने 'अलंकार रत्नाकर' और दास ने 'काव्य-निर्णय' नामक ग्रंथ लिखे।

४. अलंकार सम्प्रदाय के पोषक हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य केशव थे। इन्होंने 'रसिक प्रिया' और 'कवि प्रिया' की रचना इसी सम्प्रदाय के आधार पर की है। उन्होंने काव्य में अलंकारों का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है—

"जदपि सुजाति सुलच्छणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजई, कविता बनिता मित्त।।"

इस प्रकार सार रूप में इस सम्प्रदाय के लिए यही कहा जा सकता है कि यद्यपि इसमें रस की नितान्त उपेक्षा न करके उसे रसवत् अलंकार के अन्तर्गत मान लिया गया है। तथापि काव्य में अलंकारों का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी हम उन्हें मूल पदार्थ का स्थान नहीं दे सकते, उन्हें काव्य की आत्मा नहीं मान सकते, क्योंकि उनमें काव्य के सौन्दर्यवर्द्धन की शक्ति है, सौन्दर्य सृष्टि की नहीं।

५. वक्रोक्ति सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के एकमात्र प्रवर्तक और आचार्य कुन्तक या कुन्तल हैं। उनके अनुसार "वक्रोक्ति काव्यस्य जीवित" अर्थात् वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है। भामह और दण्डी के अनुसार वक्रोक्ति कथन की उस विचित्र शैली का नाम है जो साधारण इतिवृत्त शैली से भिन्न हो, परवर्ती आचार्य रुद्रट आदि ने वक्रोक्ति शब्द को उपर्युक्त दोनों मतों से यहाँ अधिक व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। वस्तुतः वक्रोक्ति से [illegible] अभिप्राय शब्दकोश अथवा लोक-प्रचलित अर्थ से भिन्न विशेष चमत्कार

विधायक अर्थ से है। वे प्रवन्धकौशल को प्रवन्ध-वक्रता, प्रसंग की नूतन उद्भावना को प्रसंगवक्रता और अलंकारों को वाक्य-वक्रता मानते हैं। उन्होंने रस को भी वक्रोक्ति के साधन रूप में स्वीकार करते हुए दण्डी आदि की भाँति रसवत् अलंकार के अन्तर्गत माना है।

६. **रीति सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय के एकमात्र संस्थापक आचार्य वामन थे। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना है—'**रीतिरात्मा काव्यस्य**' और '**विशिष्ट-पद-रचना**' को रीति कहा है। यह विशिष्टता गुणों से है और काव्य-शोभा के उत्पन्न करनेवाले धर्मों को गुण कहा गया है '**काव्य शोभायाः करतारो धर्मा गुणाः**'। इस प्रकार गुण और रीति दोनों ही अन्त में साध्य न रहकर शोभा के साधक बन जाते हैं। उनके अनुसार रीति का सम्बन्ध गुण से और गुण का सम्बन्ध काव्य की आत्मा रस से है।

इस प्रकार हिन्दी रीति-काव्य में संस्कृत साहित्य का अनुकरण तो किया गया परन्तु उसमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। हिन्दी रीतिकाव्यों में संस्कृत के लक्षण ग्रंथों के समान समस्त काव्य सिद्धान्तों का गम्भीर और पूर्ण विवेचन नहीं हो सका। संस्कृत में सभी सम्प्रदायों पर उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे गए परन्तु हिन्दी रीति-काव्य अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण देने में मग्न रहा। रीति और वक्रोक्ति की विवेचना 'न' के बराबर हुई। वक्रोक्ति एक विशेष अलंकार के ही रूप में सीमित रही और रीति का भी संकेतमात्र ही हुआ। अन्ततः निष्कर्ष यह है कि हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य संस्कृत के काव्य सम्प्रदायों से सीधा प्रभावित है यद्यपि उस प्रभाव ग्रहण में ये कवि पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सके।

प्रश्न २८—महाकवि बिहारी का प्रामाणिक जीवन प्रस्तुत कीजिए।

प्रायः प्राचीन महापुरुषों और महाकवियों के जन्मकाल, जन्मस्थान आदि के विषय में शंका रहती है। इसका कारण यही है कि ये लोग अपने विषय में स्वयं कुछ भी नहीं लिखते थे। कुछ लोगों ने यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री एकत्र कर 'बिहारी' की जीवनी संक्षेप में लिखने का प्रयास किया है, जिसमें सबसे प्राचीन 'बिहार-बिहारी' नामक पद्यात्मक निबन्ध है जिसमें बिहारी का जीवन

प्रामाणिक रूप में लिखा गया है। इसके अतिरिक्त श्री जगन्नाथ जी 'रत्नाकर' ने भी बहुत खोज करने के उपरान्त बिहारी के विषय में 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में अत्यन्त प्रामाणिक रूप में लिखा है। अब इन्हीं खोजकों की कृतियों के आधार पर कविवर बिहारीलाल के विषय में अत्यन्त प्रामाणिक रूप से प्रकाश डाला जाएगा। महाकवि बिहारी धौम्यगोत्री श्रोत्रिय माथुर चौबे थे। माथुर में पाण्डेय, तिवारी, ककोर और घरवारी आदि कई उपाधियाँ होती हैं इनमें से बिहारीलाल जी घरवारी थे। परन्तु मिश्रबन्धुओं ने बिहारी को 'ककोर' में उत्पन्न माना है। मिश्रबन्धुओं का यह मानना भ्रमपूर्ण और अशुद्ध है। इसका कारण यह है कि मिश्रबन्धुओं ने बिहारी-सतसई की पद्यात्मक टीका लिखने वाले कृष्ण कवि को बिहारी का पुत्र माना है। चूँकि कृष्ण कवि ककोर कुल के थे तो बिहारी को भी ककोर कुल का अवश्य होना चाहिए। परन्तु यह विचार तर्कसंगत और उचित नहीं, क्योंकि कृष्ण कवि ने अपनी टीका में कहीं पर भी स्वयं को बिहारी का पुत्र होना प्रमाणित नहीं किया। शिवसिंह सेंगर ने बिहारीलाल को चौबे माना है। डा० ग्रियर्सन का यही मत है, इन्होंने "The Vernacular Literature of Hindustan" में बिहारीलाल को 'चौबे' वंश का प्रमाणित किया है। श्री राधाचरण गोस्वामी का मत है कि बिहारी भाट हैं। श्री हरिचरणदास ने 'बिहारी-सतसई' की टीका करते हुए उन्हें केशव से सम्बन्धित किया है। राधाकृष्णदास ने उन्हें सनाढ्य ब्राह्मण सिद्ध किया है। अन्तर्साक्ष्य से हमें इस सम्बन्ध में कुछ और सामग्री नहीं मिलती। 'बिहारी-विहार' की भूमिका के अनुसार वे धौम्यगोत्री घरवारी थे। श्री जगन्नाथ रत्नाकर ने भी 'नागरी प्रचारिणी-पत्रिका' में इसी भाव की पुष्टि की। पं० अयोध्या प्रसाद पाठक ने बिहारीलाल को माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण माना है। इन्होंने बिहारी-सतसई में से कुछ ऐसे शब्द निकाल दिये हैं जो चतुर्वेदी वंश में बहुत अधिक बोले जाते हैं।

बिहारी के माता-पिता के विषय में भी इतिहास मौन है। यदि इनके माता-पिता के विषय में हमें कुछ सामग्री प्राप्त हो जाती तो हमें [illegible] को निश्चित करने में कोई कठिनाई न होती। बिहारीलाल जी के

में तो कदाचित ही कुछ प्रमाण मिल सकें, पिता के सम्बन्ध में अवश्य कुछ मत-भेद उपस्थित है। अनेक टीकाकारों और विहारी-साहित्य के आलोचकों ने केशव-दास को जो कि रीतिकाल के आधार-स्तम्भ हैं, विहारी का पिता माना है जिसका आधार निम्न पद हैं :—

"प्रकट भए द्विजराज कुल सुवस वसे व्रज आय।
मेरी हरौ कलेश सब केशव केशवराय॥"

'केशवराय' शब्द के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह केशवदास कोई अन्य व्यक्ति है या रीतिकाल के कवि। इस मत को स्पष्ट करने के लिए हमें 'रामचन्द्रिका' के पृष्ठ उलटने पड़ेंगे। केशव ने स्वयं को 'विज्ञान-गीती' में केशवराय लिखा है। सतसई के दोहों के अध्ययन में इसके निर्माण का पता चलता है परन्तु केशव के समय से इसमें बड़ा भारी भेद माना जाता है।

विहारी का कुछ परिचय हमें जयसिंह के इतिहास से मिलता है। जयसिंह का राज्यकाल १६६५ है। इनसे स्पष्ट होता है कि विहारी भी १६६५ में जयसिंह के दरबार में थे। केशव का समय १६११ तक है; विहारी जयसिंह के यहाँ १६६८ तक रहे। इसका अभिप्राय यह है कि विहारी उस समय तरुणावस्था में थे। केशव की आयु उस समय ४५ वर्ष की रही होगी, इससे उनका पिता-पुत्र का सम्बन्ध माना जा सकता है परन्तु इतना होने पर भी कई प्रकार की आपत्तियाँ इस सम्बन्ध में हैं।

केशव और विहारी दोनों ही महाकवियों की कोटि में आते हैं। समसामयिक और परवर्ती ग्रन्थकारों ने उनका उल्लेख किया है परन्तु उन्होंने कहीं पर भी विहारी और केशव में पिता-पुत्र के सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया गया। क्या वे इस सम्बन्ध से परिचित नहीं थे? इस बात का अज्ञान इस सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न करता है।

सतसई में कहीं पर भी हमें केशव के समान भाषा, शैली व शब्दों का रूप नहीं मिलता। क्या यह सम्भव हो सकता है? जबकि दोनों में कवि-प्रतिभा है। अध्ययन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि विहारी सतसई पर कविप्रिया

और रसिकप्रिया का प्रभाव है या नहीं। वस्तुतः सतसई पर केशव का प्रभाव नहीं, इसलिए इनका पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

इसके आधार पर बिहारी का जन्म १६६० वि० के लगभग ग्वालियर में हुआ। यह ब्राह्मण-कुल के माथुर चौबे थे। इनके पिता का नाम केशवराय अवश्य था परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि य‌ह केशवराय 'रामचन्द्रिका' का कवि ही है या अन्य कोई। किसी अज्ञात कारण अथवा पिता की निर्धनता और असामयिक मृत्यु से इन्होंने अपनी बाल्यावस्था बुन्देलखण्ड में जहाँ इनकी ननिहाल है, बिताई।

बिहारी विवाह होने के पश्चात् अपनी स्त्री के यहाँ मथुरा में ही रहे। उसी समय के लगभग शाहजहाँ वृन्दावन आए। उसने लोक-विश्रुत नरहरिदास जी के दर्शन किये। शाहजहाँ के समक्ष होनहार बिहारी की महात्मा जी ने प्रशंसा की। जिस प्रतिभा को देख शाहजहाँ ने इन्हें आगरे बुलाया और कहा जाता है कि इस प्रकार बिहारी आगरे चले गए।

सं० १६०७ में, शाहजहाँ के किसी उत्सव में भारत के बहुत से राजा-महाराजा आमन्त्रित हुए। उस समय बिहारी की काव्य-प्रतिभा को देखने का अवसर उन नरेशों को मिला। इनकी कविता पर प्रसन्न होकर उन लोगों ने बिहारी की वार्षिक वृत्ति बाँध दी।

बिहारी का प्रभाव जयसिंह महाराज पर इतना अधिक था कि इसकी प्रेरणा से अपनी मुग्धा रानी के प्रति आसक्ति को छोड़ कर वे राज्य-कार्य में फिर लग गए। बिहारी का यह दोहा ही बिहारी को अमर कर गया—

"नहिं परागु नहिं मधुर मधु नहिं विकासु एहि काल।
अली कली ही सौं, बँध्यो आगे कौन हवाल ॥"

बिहारी के कोई सन्तान नहीं थी इसलिए उन्होंने अपने भतीजे निरंजन को अपना पुत्र बना लिया। जनश्रुति के आधार पर बिहारी का 'कृष्ण' नामक पुत्र था। परन्तु सतसई के टीकाकारों ने इसका नाम टीकाओं में नहीं दिया। रत्नाकर ने लिखा है कि शायद 'निरंजन' ही 'निरंजन कृष्ण' के नाम पर हो। क्योंकि

बिहारी के वंश में 'कृष्ण' नाम के अन्त में अवश्य आता है और उन्हें साधारणतया उन्हें आधे नाम से बुलाया जाता है।

बिहारी बड़े रसिक कवि थे। यह बात उनके दोहों से स्पष्ट लक्षित होती है। परन्तु उनकी रसिकता नागरिक जीवन की रसिकता थी, यद्यपि उनके काव्य का विषय जीवन की सामान्य लोक-भूमि ही रहा है। उनके अप्रस्तुत विधान परम्परागत रूढ़ियों को छोड़ कर सामान्य जीवन से लिये जान पड़ते हैं। क्योंकि साधारण जीवन के माधुर्य में उनकी वृत्ति वैसी नही रमी। यह बड़े मौजी प्रकृति के थे। इनके दोहों में इनकी मस्ती और कहने के ढ ंग में वक्रता प्रकट हो रही है।

बिहारीलाल ने बाल्यावस्था से ही धुरन्धर विद्वान्, प्रकांड पंडित और बड़े-बड़े प्रसिद्ध महात्माओं का सत्संग प्राप्त कर, संस्कृत, फारसी, उर्दू, हिन्दी, प्राकृत आदि सभी भाषाओं पर पूर्ण अधिकार कर, संगीत एवं साहित्य में निष्णात परिडत बन, राजा, राव, महाराज, उमराव, मन्त्री, सरदार, विद्वान् एवं महात्माओं आदि से आदर तथा पुरस्कार प्राप्त कर अपने जीवन में सार्थकता प्राप्त की और अपने जीवन-काल को समाप्त किया। बिहारीलाल जी भक्तप्रवर रसिक, विनोदशील, उदार, अनन्य प्रेमी एवं आत्माभिमानी कवि थे। इनमें .तीय, सामाजिक तथा राष्ट्रीय अभिमान था। हिन्दूत्व पर इनको गर्व था। बिहारी अपने समकालीन कवियों की भाँति चापलूस और ठकुरसुहाती कहने वाले नहीं थे। इन्होंने अपने जीवन में कभी किसी की प्रशंसा नहीं की। बिहारी ने अपनी एक उक्ति पर मिर्जा राजा जयशाह को शिवाजी पर चढ़ाई करने से रोक दिया था—

"स्वारथु सुकृतु न श्रमु वृथा देखि विहंग विचारि।
बाज, पराये पानि परि, तू पच्छीनु न मारि॥"

जो कुछ भी हो, हम यह तो दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि बिहारीलाल जी एक अद्वितीय, प्रखर-प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। उन्हें अनेक विद्याओं और कलाओं का ज्ञान था। वह मानव-प्रेमी थे। भारत में प्रसिद्ध महात्माओं से लेकर सम्राट् तक उनका आदर था। वह बहुदर्शी, बहुश्रुत, कलाविद्, देश-

कालज्ञ, प्रकांड पंडित, अनुभवी तथा सहृदय व्यक्ति थे। काव्यानन्द में मस्त रहना, अपने पाठकों में भी वैसे ही मस्ती भरना उनके जीवन का उद्देश्य था।

प्रश्न २६—महाकवि विहारी की प्रसिद्धि के क्या कारण थे ? यह बतलाते हुए उनके काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

भारतीय रस-सम्प्रदाय के धुरंधर आचार्यों ने शृंगार रस को रसराज माना है। संस्कृत का अधिकांश काव्य शृंगार रस से आप्लावित है। कवि कुलगुरु कालिदास शृंगार रस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। हिन्दी साहित्य निर्माण काल में प्रारम्भ से लेकर अब तक संस्कृत साहित्य ही उसका आदर्श बना है। अतः रसराज की परम्परा को अक्षुण्ठित रखने के लिए हिन्दी साहित्य में भी त्रिदेव के सदस्य तीन अनुभूति प्रधान कवि उत्पन्न हुए—विद्यापति, बिहारी और देव। ये तीनों ही निजानुभूति से शृंगार रस के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को जानने वाले थे।

रसिक शिरोमणि-बिहारी ने हिन्दी साहित्य में जो प्रतिभा का चातुर्य और शृंगार रस का पूर्ण परिपाक प्रदर्शित किया, उसका अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी साहित्य में शृंगार रस के जितने भी ग्रन्थ लिखे गए, उनमें सबसे अधिक विख्यात बिहारी सतसई है। महाकवि तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरितमानस' को छोड़कर सबसे अधिक (चवालीस) टीकायें बिहारी सतसई पर हुई। ये सब उसकी प्रसिद्धि के द्योतक हैं। इसकी प्रशंसा में ब्रजभाषाभाषियों के मधुर कण्ठ से अचानक ही यह दोहा फूट पड़ता था—

> ब्रज भाषा वरनी सबै, कविवर बुद्धि विसाल।
> सबकी भूषण सतसई, रची बिहारी लाल॥"

ब्रजभाषा-भाषियों के अतिरिक्त वर्तमान काल के आरम्भ में भी अनेक आलोचकों ने बिहारी सतसई की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की। राधाचरण गोस्वामी ने बिहारी को सर्वश्रेष्ठ कवि माना है। उनका कथन है कि 'सूर सूर तुलसी शशि उडगन केशवदास' हैं, तो बिहारी हिन्दी साहित्य गगन के ...[illegible] पीयूषवर्षी मेघ हैं, जिनके आच्छादन मात्र से सूर्य, ... हो जाते हैं। यद्यपि यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण

बिहारी के वंश में 'कृष्ण' नाम के अन्त में अवश्य आता है और उन्हें साधारणतया उन्हें आधे नाम से बुलाया जाता है।

बिहारी बड़े रसिक कवि थे। यह बात उनके दोहों से स्पष्ट लक्षित होती है। परन्तु उनकी रसिकता नागरिक जीवन की रसिकता थी, यद्यपि उनके काव्य का विषय जीवन की सामान्य लोक-भूमि ही रहा है। उनके अप्रस्तुत विधान परम्परागत रूढ़ियों का छोड़ कर सामान्य जीवन से लिये जान पड़ते हैं। क्योंकि साधारण जीवन के माधुर्य में उनकी वृत्ति वैसी नही रमी। यह बड़े मौजी प्रकृति के थे। इनके दोहों में इनकी मस्ती और कहने के ढ़ंग में वक्रता प्रकट हो रही है।

बिहारीलाल ने बाल्यावस्था से ही धुरन्धर विद्वान्, प्रकांड पंडित और बड़े-बड़े प्रसिद्ध महात्माओं का सत्संग प्राप्त कर, संस्कृत, फारसी, उर्दू, हिन्दी, प्राकृत आदि सभी भाषाओं पर पूर्ण अधिकार कर, संगीत एवं साहित्य में निष्णात परिडत बन, राजा, राव, महाराज, उमराव, मन्त्री, सरदार, विद्वान् एवं महात्माओं आदि से आदर तथा पुरस्कार प्राप्त कर अपने जीवन में सार्थकता प्राप्त की और अपने जीवन-काल को समाप्त किया। बिहारीलाल जी भक्तप्रवर रसिक, विनोदशील, उदार, अनन्य प्रेमी एवं आत्माभिमानी कवि थे। इनमें जातीय, सामाजिक तथा राष्ट्रीय अभिमान था। हिन्दूत्व पर इनको गर्व था। बिहारी अपने समकालीन कवियों की भाँति चापलूस और ठकुरसुहाती कहने वाले नहीं थे। इन्होंने अपने जीवन में कभी किसी की प्रशंसा नहीं की। बिहारी ने अपनी एक उक्ति पर मिर्जा राजा जयशाह को शिवाजी पर चढ़ाई करने से रोक दिया था—

> "स्वारथु सुकृतु न श्रमु वृथा देखि विहंग विचारि।
> बाज, पराये पानि परि, तू पच्छीनु न मारि॥"

जो कुछ भी हो, हम यह तो दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि बिहारीलाल जी एक अद्वितीय, प्रखर-प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। उन्हें अनेक विद्याओं और कलाओं का ज्ञान था। वह मानव-प्रेमी थे। भारत में प्रसिद्ध महात्माओं से लेकर सम्राट् तक उनका आदर था। वह बहुदर्शी, बहुश्रुत, कलाविद्, देश-

फालज्ञ, प्रकांड पंडित, अनुभवी तथा सहृदय व्यक्ति थे। काव्यानन्द में मस्त रहना, अपने पाठकों में भी वैसे ही मस्ती भरना उनके जीवन का उद्देश्य था।

प्रश्न २६--महाकवि बिहारी की प्रसिद्धि के क्या कारण थे ? यह बतलाते हुए उनके काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

भारतीय रस-सम्प्रदाय के धुरंधर आचार्यों ने शृंगार रस को रसराज माना है। संस्कृत का अधिकांश काव्य शृंगार रस से आप्लावित है। कवि कुलगुरु कालिदास शृंगार रस के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। हिन्दी साहित्य निर्माण काल में प्रारम्भ से लेकर अब तक संस्कृत साहित्य ही उसका आदर्श बना है। अतः रसराज की परम्परा को अकुण्ठित रखने के लिए हिन्दी साहित्य में भी त्रिदेव के सदृश्य तीन अनुभूति प्रधान कवि उत्पन्न हुए—विद्यापति, बिहारी और देव। ये तीनों ही निजानुभूति से शृंगार रस के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को जानने वाले थे।

रसिक शिरोमणि-बिहारी ने हिन्दी साहित्य में जो प्रतिभा या चातुर्य और शृंगार रस का पूर्ण परिपाक प्रदर्शित किया, उसका अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी साहित्य में शृंगार रस के जितने भी ग्रन्थ लिखे गए, उनमें सबसे अधिक विख्यात बिहारी सतसई है। महाकवि तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरितमानस' को छोड़कर सबसे अधिक (चवालीस) टीकायें बिहारी सतसई पर हुईं। ये सब उसकी प्रसिद्धि के द्योतक हैं। इसकी प्रशंसा में ब्रजभाषाभाषियों के मधुर कण्ठ से अचानक ही यह दोहा फूट पड़ता था—

> ब्रज भाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि बिसाल।
> सबकी भूषण सतसई, रची बिहारी लाल॥"

ब्रजभाषा-भाषियों के अतिरिक्त वर्तमान काल के आरम्भ में भी अनेक आलोचकों ने बिहारी सतसई की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की। राधाचरण गोस्वामी ने बिहारी को सर्वश्रेष्ठ कवि माना है। उनका कथन है कि 'सूर सूर तुलसी शशि उड़गन केशवदास' हैं, तो बिहारी हिन्दी साहित्य गगन के शोभायमान पीयूषवर्षी मेघ हैं, जिनके आच्छादन मात्र से सूर्य, शशि और उडुगण अदृश्य हो जाते हैं। यद्यपि यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है किन्तु यह स्वीकार

करना पड़ेगा कि बिहारी सतसई में स्वाभाविक प्रतिभा, चमत्कार तथा रस परिपाक के पूर्ण तत्त्व उपलब्ध होते हैं, जिनसे उनका महत्त्व अत्यधिक बढ़ गया है।

आज के युग में बिहारी सतसई पर अनेक कटु आलोचनाएँ की जाती हैं और उसपर अश्लील एवं असंतोष का आघात किया जाता है। ऐसे आलोचकों का मत है कि बिहारी ने शृंगार की रहस्यमयी गोपनीय बातों का स्पष्टीकरण किया है, किन्तु हमारी विनम्र सम्मति में तो यह आता है कि उसपर उद्घाटना करने से पूर्व बिहारी को ऐसी शृंगारमयी प्रेरणा कहाँ से और किन परिस्थितियों में प्राप्त हुई यह जानना आवश्यक है। सर्वप्रथम हिन्दी के मूल स्रोत संस्कृत साहित्य में शृंगार रस की प्रधानता रही है। हिन्दी के प्रारम्भिक वीरगाथाकाल में काव्य की उद्भावना में कुमारियाँ कारण बनीं। भक्तिकाल में इष्टदेव के प्रति आराधना में माधुर्य भावना ही मूल कारण थी। भक्त कवियों ने आत्मा को पति-पत्नी या प्रेयसी प्रीतम के रूप में प्रतीक मानकर शृंगार रस की धारा प्रवाहित की। इसके अतिरिक्त तत्कालीन विदेशी भाव हमारे देश में फैल रहे थे। मुसलमानों ने भारत भूमि पर जमकर अपनी विलासिता और शृंगार की सामग्री को जनता में बाँटना आरम्भ किया। शनैः शनैः मुसलमानी प्रभाव भारतीयों के हृदय पर जमने लगा और साथ ही शृंगार की अग्नि में घृत डालने लगा। भक्ति भाव से लोगों की प्रवृत्ति हटी और विलासिता की ओर झुकी। यही समय हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के नाम से चलने लगा। लक्षण-ग्रन्थों का सूत्रपात होने लगा। कविता 'स्वान्तः सुखाय' न होकर 'स्वामिनः सुखाय' बन गई। रीतिकाल के प्रथम आचार्य केशवदास ने लक्षण ग्रंथों के निर्माण-द्वारा शृंगार की स्थापना बड़े बलपूर्वक की। इन सब परिस्थितियों और प्रभावों से उस युग में कोई भी रसिक अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता था। इसी रसमयी भावना से बिहारी की सुप्त रसिक भावना प्रतिभा को लेकर जाग्रत हो उठी। इस पर यह आक्षेप लगाना नितांत निराधार है कि बिहारी ने शृंगार रस में नायक-नायिका के भेदोपभेद के आवरण को हटाकर अश्लील का प्रचार किया।

इस आक्षेप का नम्र निवारण यही होगा कि आज की सभ्यता के युग में बिहारी जैसी वासनामयी कविता के अभाव में भी सब युगों से अधिक अनाचार और अश्लीलता का प्राबल्य है। जितनी शृंगार की सामग्री लिपस्टिक, पाउडर (Lipstik, Powder) आदि पर करोड़ों रुपये व्यय हो रहे हैं उतना बिहारी के युग में दशांश भी नहीं हुआ होगा।

बिहारी सौन्दर्य का उपासक था। सौन्दर्य का दर्शन उनको प्रेमी और प्रेमिका के प्रणय व्यापार में अधिक हुआ करता था। प्रणय की व्रीड़ा ही शृंगार की धारा बनकर फूट पड़ी। अंग्रेजी साहित्य में कीट्स (Keats) सबसे अधिक सौन्दर्य-प्रेमी और शृंगार रस का महाकवि हुआ है। उसकी ऐन्द्रीय लिप्सा (Sensuality) प्रसिद्ध है। कीट्स केवल सौन्दर्य को ही सत्य मानता था। उसका कथन ही उसके सिद्धान्त को प्रकाशित करता है—

"Beauty is truth, truth is beauty, That is all."

इस सौन्दर्य प्रेम और सौन्दर्यमय सत्य के सिद्धान्त से कीट्स अंग्रेजी साहित्य में अमर कवि बन गया। बिहारी का सौन्दर्य प्रेम 'कीट्स' से किसी प्रकार कम नहीं था, उन्होंने अपने ग्रन्थ का आरम्भ ही आराध्यदेवी के प्रभावोत्पादक सौन्दर्य से किया। 'कीट्स' की चित्रांकन शैली (Pictorial quality) अत्यन्त प्रसिद्ध है और अंग्रेजी साहित्य में अपनी विजय की तूती बजा दी। निम्नलिखित चार पंक्तियाँ इसके सौन्दर्यमय चित्रों की परिचायिका हैं—

"I met a lady in the meads,
Full beautiful—a fairy's child,
Her hair was long, her foot was light,
And her eyes were wild."

बिहारी तो इस कला में 'कीट्स' से आगे बढ़े हुए परिलक्षित होते हैं। वे जहाँ कहीं किसी को सौन्दर्य की स्थिति में गड़ा हुआ देख लेते हैं, उसी क्षण अपनी लेखनी की तूलिका में उस चित्र को भर लेते हैं और रागमय शब्दों के सामंजस्य से सबके हृदय पटल पर एक सुन्दर चित्र को अंकित कर देते हैं। कृष्ण बैठे हुए हैं, राधिका कृष्ण को मक्खन खिलाने के लिए छींके पर से हँडिया उतार रही हैं। एक हाथ से छींके को पकड़ रखा है और दूसरे हाथ में हँडिया को ...

करना पड़ेगा कि बिहारी सतसई में स्वाभाविक प्रतिभा, चमत्कार तथा र
परिपाक के पूर्ण तत्त्व उपलब्ध होते हैं, जिनसे उनका महत्त्व अत्यधिक ब
गया है।

आज के युग में बिहारी सतसई पर अनेक कटु आलोचनाएँ की जाती हैं
और उसपर अश्लील एवं असंतोष का आघात किया जाता है। ऐसे आलो-
चकों का मत है कि बिहारी ने शृंगार की रहस्यमयी गोपनीय बातों का
स्पष्टीकरण किया है, किन्तु हमारी विनम्र सम्मति में तो यह आता है कि
उसपर उद्दङ्कना करने से पूर्व बिहारी को ऐसी शृंगारमयी प्रेरणा कहाँ से
और किन परिस्थितियों में प्राप्त हुई यह जानना आवश्यक है। सर्वप्रथम हिन्दी
के मूल स्रोत संस्कृत साहित्य में शृंगार रस की प्रधानता रही है। हिन्दी के
आरम्भिक वीरगाथाकाल में काव्य की उद्भावना में कुमारियाँ कारण बनीं।
भक्तिकाल में इष्टदेव के पति आराधना में माधुर्य भावना ही मूल कारण
थी। भक्त कवियों ने आत्मा को पति-पत्नी या प्रेयसी प्रीतम के रूप में प्रतीक
मानकर शृंगार रस की धारा प्रवाहित की। इसके अतिरिक्त तत्कालीन
विदेशी भाव हमारे देश में फैल रहे थे। मुसलमानों ने भारत भूमि पर जम-
कर अपनी विलासिता और शृंगार की सामग्री को जनता में बाँटना आरम्भ
किया। शनैः शनैः मुसलमानी प्रभाव भारतीयों के हृदय पर जमने लगा और
साथ ही शृंगार की अग्नि में घृत डालने लगा। भक्ति भाव से लोगों की प्रवृत्ति
हटी और विलासिता की ओर झुकी। यही समय हिन्दी साहित्य में रीतिकाल
के नाम से चलने लगा। लक्षण-ग्रन्थों का सूत्रपात होने लगा। कविता
'स्वान्तः सुखाय' न होकर 'स्वामिनः सुखाय' बन गई। रीतिकाल के प्रथम
आचार्य केशवदास ने लक्षण ग्रंथों के निर्माण-द्वारा शृंगार की स्थापना बड़े
...पूर्वक की। इन सब परिस्थितियों और प्रभावों से उस युग में कोई भी
...क अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता था। इसी रसमयी भावना से
...ारी की सुप्त रसिक भावना प्रतिभा को लेकर जाग्रत हो उठी। इस पर
... यह आक्षेप लगाना नितांत निराधार है कि बिहारी ने शृंगार रस में
...-नायिका के भेदोपभेद के आवरण को हटाकर अश्लील का प्रचार किया।

इस आक्षेप का नव निवारण यही होगा कि आज की सभ्यता के युग में बिहारी जैसी कामनामयी कविता के अभाव में भी सब युगों से अधिक अनाचार और अश्लीलता का प्राबल्य है। जितनी शृंगार की सामग्री लिपस्टिक, पाउडर (Lipstik, Powder) आदि पर करोड़ों रुपये व्यय हो रहे हैं उतना बिहारी के युग में दशांश भी नहीं हुआ होगा।

बिहारी सौन्दर्य का उपासक था। सौन्दर्य का दर्शन उनको प्रेमी और प्रेमिका के प्रणय व्यापार में अधिक हुआ करता था। प्रणय की क्रीड़ा ही शृंगार की धारा बनकर फूट पड़ी। अंग्रेजी साहित्य में कीट्स (Keats) सबसे अधिक सौन्दर्य-प्रेमी और शृंगार रस का महाकवि हुआ है। उसकी ऐन्द्रीय लिप्सा (Sensuality) प्रसिद्ध है। कीट्स केवल सौन्दर्य को ही सत्य मानता था। उसका कथन ही उसके सिद्धान्त को प्रकाशित करता है—

"Beauty is truth, truth is beauty, That is all."

इस सौन्दर्य प्रेम और सौन्दर्यमय सत्य के सिद्धान्त से कीट्स अंग्रेजी साहित्य में अमर कवि बन गया। बिहारी का सौन्दर्य प्रेम 'कीट्स' से किसी प्रकार कम नहीं था, उन्होंने अपने ग्रन्थ का आरम्भ ही आराध्यदेवी के प्रभावोत्पादक सौन्दर्य से किया। 'कीट्स' की चित्रांकन शैली (Pictorial quality) अत्यन्त प्रसिद्ध है और अंग्रेजी साहित्य में अपनी विजय की तूती बजा दी। निम्नलिखित चार पंक्तियाँ इसके सौन्दर्यमय चित्रों की परिचायिका हैं—

"I met a lady in the meads.
Full beautiful—a fairy's child,
Her hair was long, her foot was light,
And her eyes were wild."

बिहारी तो इस कला में 'कीट्स' से आगे बढ़े हुए परिलक्षित होते हैं। वे जहाँ कहीं किसी को सौन्दर्य की स्थिति में खड़ा हुआ देख लेते हैं, उसी क्षण अपनी लेखनी की तूलिका में उस चित्र को भर लेते हैं और रागमय शब्दों के सामंजस्य से सबके हृदय पटल पर एक सुन्दर चित्र को अंकित कर देते हैं। कृष्ण बैठे हुए हैं, राधिका कृष्ण को मक्खन खिलाने के लिए छींके पर से हँडिया उतार रही हैं। एक हाथ से छींके को पकड़ रखा है और दूसरे हाथ में हँडिया को उठा

लिया। राधा की यह स्थिति कृष्ण को मोहित कर लेती है। उस समय कृष्ण बोल पड़ते हैं कि तुम्हारे खड़े रहने की यह स्थिति मुझे भली लगी, थोड़ी देर ठहर जा, मैं चित्र खींच लूँ।

"अहे दहेड़ी जिनि धरै, जिनि तू लेहि उतार।
नीके है छींके छुए, ऐसी ही रहि नारि।"

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर नायिका नायक को चित्र देखते हुए देखकर सन्देह करने लग जाती है। वह जानना चाहती है कि नायक किसके चित्र को देखते हुए स्वयं तल्लीन होकर चित्र से बन गये हैं। यद्यपि वह चित्र नायिका का ही था किन्तु सन्देह ने नायिका को उत्सुक बना दिया। अब उसी का चित्र होने से इतनी प्रसन्न हो गई कि नायक को देखते-देखते वह स्वयं चित्र सी बन गई। बिहारी ने उस चित्र को कैसे चमत्कारपूर्ण ढंग से अंकित किया—

"दुचिते चित चलति न हलति, हंसति न झुकति विचारि।
लिखित चित्र पिय लखि, चितै रही चित्र सी नारि॥"

इतने पर भी बिहारी सन्तुष्ट नहीं होते। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य के सच्चे चित्रकारों की न्यूनता है। वे तुरन्त कह उठते हैं—

"लिखत बैठि जाकी सबिहि, गहि-गहि गरब-गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥"

इन शब्द-चित्रों के द्वारा बिहारी की कविता में अनूठी मौलिकता पाई जाती है। इस कला में वे बड़े सिद्धहस्त एवं सफल चित्रकार प्रमाणित हुए। आधुनिक युग के प्रसिद्ध ब्रजभाषा कवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने बिहारी का ही शुद्ध अनुकरण किया। वियोग-वर्णन में भी रत्नाकर जी ने बिहारी का अनुकरण किया। बिहारी ने विरह के विषम ताप से सन्तप्त नायिका को बड़ी विदग्धता के साथ दूती द्वारा नायक से सुदर्शन देने की प्रार्थना कराई और साथ ही सुदर्शन शब्द से सुदर्शन चूर्ण का संकेत करके अपने वैद्यक के ज्ञान का परिचय दिया है—

"यह बिनु सुत नगु राखिके जगत बड़ी जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइये, आय सुन्दरसनु देहु॥"

रत्नाकर जी ने उद्धवशतक में गोपियों द्वारा इसी प्रकार के शब्द कहल-
वाये—

> "रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के,
> जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
> तिन के चलावन की चरचा चलाई कौन,
> देत न सुदरसन हूँ यों सुधि बिसराई है'''॥"

सभी आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा माना है। रस-परिपाक की दृष्टि से बिहारी के दोहे रस से भरपूर मिलेंगे। यद्यपि बिहारी ने कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा तथापि उनके दोहों की पृष्ठभूमि में उस समय के रीति ग्रन्थों का पूरा विधान परिलक्षित होता है। रस सामग्री में सभी भाव अपना महत्त्व रखते हैं किन्तु विभावों और अनुभावों का जैसा सीधा वर्णन हो सकता है, वैसा स्थायी और संचारियों का नहीं। वे अधिकतर अनुभावों के द्वारा अनुमेय ही रहते हैं। किसी मानसिक अवस्था को उसके नाम से बतलाने में तो स्वशब्द-वाच्यत्व दोष आ जाता है। अनुभावों के अन्तर्गत ही सात्त्विक भाव आ जाते हैं। बिहारी ने इन्हीं अनुभाव और विभावों के द्वारा शृंगार रस को व्यक्त करके आचार्यत्व की कोटि में भी अपने को परिगणित कराया। निम्नलिखित दोहा रस सामग्री को उपस्थित करने में अत्यन्त सफल हुआ है—

> "स्वेद-सलिलु रोमांच कुसु, गहि दुलही अरु नाथ।
> दियौ हियौ संग हाथ के, हाथ लिये ही हाथ॥"

इस दोहे में वर-वधू आलम्बन और आश्रय हैं। अतिशय प्रेम उद्दीपन [illegible] से यहाँ पर रस व्यंग्य है। रोमांच और स्वेद अनुभाव हैं। हर्ष [illegible] भाव अनुमेय है। उद्दीपन विभावों द्वारा व्यक्त संयोग रस की [illegible] करने वाला निम्नलिखित दोहा सुन्दर उदाहरण उपस्थित [illegible]

> "भौंहैं उचैं आँचरु उलटि, मोर-मोरि [illegible]
> नीठि-नीठि भीतर गई, डीठि-डीठि [illegible]

बिहारी में सबसे अधिक विशेषता समास-गुण [illegible]
उन्होंने अपनी कविता के लिए दोहा या सोरठा [illegible]

समस्त रचना मुक्तक है। दोहा मात्रिक छन्दों में बहुत छोटा होता है। इतने छोटे से साँचे में कवि को कितनी बातें कहनी पड़ती हैं। भाव की सारी सामग्री या रस का चक्र स्थापित इसी दोहे में करना पड़ता है। इसलिए दोहे में सफलतापूर्वक कुछ कहना सुनना कठिन कार्य है। आचार्य शुक्ल जी की शब्दावली का प्रयोग करते हुए हम कह सकते हैं कि सफल मुक्तककार के लिये जो कल्पना की समाहार-शक्ति और भाषा की समास शक्ति वांछनीय है, वह बिहारी में पूरी तौर से वर्त्तमान थी। बिहारी की यह विशेषता है कि वे कल्पना के सहारे बहुत से चित्रों को एक स्थान पर उपस्थित कर देते हैं। जैसे—

"बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनु हँसे, देन कहै नटि जाय॥"

इसके द्वारा कवि ने नायिका की सजीवता, चपलता और विनोदप्रियता का चित्र अंकित कर दिया है। बिहारी के अधिकांश दोहों में अर्थ-गम्भीर्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। संस्कृत साहित्य में अर्थ-गम्भीरता के लिए महाकवि भारवि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। "भारवेरर्थगौरवम्" यह कहकर उनका स्थान महत्त्वपूर्ण बताया गया है, उनकी अमरकृति 'किरातार्जुनीय' के ११ वें सर्ग में वृद्ध वेशधारी इन्द्र के मुख से अर्जुन को वे विषय विराग का उपदेश दिलाते हैं—

"शरदम्बुधरच्छाया गत्वर्यो यौवनश्रियः।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः॥"

बिहारी भी अपने आश्रयदाता जयपुर के महाराज जयसिंह को नवागत रानी के प्रेम-पाश से एक छोटा-सा दोहा लिखकर हटाते हैं। भारवि के सदृश अर्थ-गाम्भीर्य निम्नांकित दोहे में कितना सुन्दर व्यक्त होता है—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बिन्ध्यौ, आगे कौन हवाल॥"

संस्कृत साहित्य में भौंरे पर लिखने की ऐसी परम्परा बहुत थी किन्तु जो रस और जो समास गुण की व्यंजना उपर्युक्त दोहे में हुई, वह निम्नलिखित श्लोक में नहीं हो पाई—

"अन्यासु तावदुमदपसहासु भृङ्ग। लोल विनोदय मनः सुमनो लतासु,
मुग्धाम जातरजसं कलिकालकाले व्यर्थकदर्थं यसि किं नवमल्लिकायाः।"

इस श्लोक में बिहारी की जैसी शक्ति और व्यंजना नहीं आ सकी। बिहारी के कथन की ही ऐसी विशेषता है। इस समास पद्धति और अर्थ गाम्भीर्य को देखकर ही किसी ने बिहारी के दोहों के सम्बन्ध में यह अमर उक्ति कही थी—

"सतसैया के दोहरा, ज्यों नावक के तीर।
देखन को छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर॥"

अलंकार-प्रियता मानव जाति के लिए एक स्वाभाविक-सी है। यह अलंकार-प्रियता मानव-जाति के रक्त में मिली हुई है। इसका मूल आत्म-प्रदर्शन की सहज प्रवृत्ति में है। प्राचीन काल में काव्यगत अलंकारों की प्रधानता होती थी। जब हृदय के तरंगित भावों को व्यक्त करने के लिये साधारण भाषा कमजोर पड़ जाती है तब आलंकारिक भाषा में व्यक्त करने का यत्न किया जाता है। अलंकारों के प्रयोग में मानसिक चित्र उपस्थित किए जाते हैं और अमूर्त को मूर्त के रूप में रखा जाता है। संस्कृत साहित्य में 'उपमा कालिदासस्य' कहकर कविकुलगुरु कालिदास को अलंकारों के प्रयोग में अत्यन्त सफल एवं सिद्धहस्त माना गया है। बिहारी की रचनाओं में उपमा, रूपक, सांगरूपक, श्लेष, अनुप्रास, यमक, अन्योक्ति और अन्य अलंकारों का बड़ा चमत्कारपूर्ण प्रयोग हुआ है। निम्नलिखित दोहे में सांगरूपक अलंकार की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है—

"खौरि पनिच भृकुटि धनुष, वधिक समरु तजि कानि।
हनतु तरुन मृग तिलक सर सुरक भाल भरि तानि॥"

शब्द श्लेषालंकारों में इनका एक दोहा बहुत प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ—

"चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥"

रीतिकाल के अन्य कवि विशेषकर केशवदास की भाँति बिहारी ने अलंकार के फेरे में पड़कर अपने हृदय को निकृष्ट उपमाओं से नहीं सजाया और न ही अपनी नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य को ढकने दिए

काव्यगत नायिका कोमलांगी है। वह स्वाभाविक सुन्दर है। यदि वह अलंकारों को धारण करे तो उसके प्राकृतिक सुन्दर दर्पण सदृश अंगों पर मोर्चे लग जाते हैं—

"पहिरि न भूषण कनक के, कहि आवत इहिं हेतु।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देतु ॥"

कालिदास की शकुन्तला के समान ही विहारी की काव्यगत नायिका को भूषणों की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं सुन्दरी है। कालिदास की शकुन्तला भी ऐसी थी—

"सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मी तनोति।
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥"

विहारी की अन्योक्तियाँ अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। उनकी अन्योक्ति से ही महाराजा जयसिंह का हृदय परिवर्त्तन हो गया। इसी प्रकार उन्होंने एक अन्योक्ति रच कर मुसलमानों के आश्रय में रहकर हिन्दुओं पर चढ़ाई करने वाले अपने आश्रयदाता को करारी फटकार सुनाई—

"स्वारथ, सुकृतु न, श्रम वृथा, देखि विहंग विचारि।
बाज, पराये पानि परि, तू पच्छीनु न मारि ॥"

उनकी एक दूसरी अन्योक्ति हमारे दैनिक जीवन में निरन्तर काम करती है। मनुष्य अपने सुख के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। किन्तु कहीं प्रयत्नों में ऐसा उलझ जाता है कि वे उसके बन्धन बनकर उपस्थित होते हैं। संस्कृत में भी कहा गया है कि—"विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्"। इस बात को विहारी ने बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

"को छुट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों त्यों उरझत जात ॥"

प्राचीन आचार्यों ने उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्रकृति का वर्णन आवश्यक

माना है। आज समय के परिवर्तन के साथ-साथ लोगों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ। छायावादी युग में तथा इस समय भी प्रकृति का वर्णन आलम्बन विभाव के रूप में ही अधिक अभीष्ट है। रीतिकालीन युग में प्रकृति का वर्णन उद्दीपन के रूप में ही हुआ। इस प्रचलित परम्परा के साथ कविवर बिहारी ने यत्र-तत्र प्रकृति का वर्णन किया और कहीं शुद्ध रूप में भी प्रकृति का स्वाभाविक सौंदर्य परिलक्षित होता है। ग्रीष्म के सन्ताप से परितप्त स्वाभाविक बैरी हिंसक पशु भी निस्सहाय होकर एक दूसरे पर आक्रमण नहीं कर पाते। इस दृश्य को देखकर कवि को तपोवन की स्मृति जाग उठी और वे कहते हैं—

"कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोवन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ॥"

सभी ऋतुओं में बसन्त और शरद् ऋतु श्रेष्ठ मानी गई है। ग्रीष्म की प्रचण्डता से लोग सन्तप्त होते हैं और वर्षा के घनघोर मेघों से संसार में अन्धेरा छा जाता है। ऐसे समय में केवल शरद् ऋतु ही सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करती है। कवि के वचनों में इस तथ्य का कैसा निरूपण हुआ है—

घन घेरो छुटिगो हरषि, चली चहूँ दिशि राह।
कियो सुचैती आय जग, सरद सूर नर नाह॥"

बहुज्ञता में बिहारी किसी प्रकार पिछड़े हुए नहीं हैं। उन्होंने अपनी सतसई में प्रायः सभी विषयों की जानकारी का परिचय दिया है। संसार की अधिक-से-अधिक जानकारी रखना कवि को आवश्यक है। मम्मट आचार्य ने काव्य के अनुशीलन के साथ-साथ शास्त्र और लोक-व्यवहार का अनुशीलन आवश्यक माना है। बिहारी ने अनुभव की कितनी ही बातें लिखीं। निम्नलिखित दोहों में बिहारी की दार्शनिक योग्यता का परिचय मिलता है—

१—"अजौ तर्यौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग
२—"जगत जनायौ जिहि सकल, सो हरि जान्यौ न
ज्यौं आँखिनु सब देखिये, आँखि न देखी जा

इन दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित और राजनीति के अनेक विषयों पर बिहारी ने अपनी सफल लेखनी चलाई। बिहारी को शृंगारिक कवि होने के कारण जो निर्मूल दोष देते हैं, उनको बिहारी के भक्ति सम्बन्धी दोहे भी देखने चाहिए। यदि वस्तुतः वह विलासी होते तो यह दोहा नहीं लिखते—

"भजन कह्यो तासौ भज्यो, भज्यो न एकौ वार।
दूर भजन जासों कह्यो, सो तू भज्यौ गंवार॥"

मन रूपी मन्दिर में प्रभु के आगमन के लिए मार्ग स्वच्छ होना आवश्यक है और कपट रूपी किवाड़ों का खुल जाना परमावश्यक है। इस बात को किसी से बिहारी ने व्यक्त किया—

"जौ लगि या मन सदन में, खुले न कपट कपाट।
विकट जटे जौलौं निपट, हरि आवैं किहि बाट॥"

रीतिकाल में बिहारी जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनके भावों और काल्पनिक चित्रों के साथ-साथ शब्दावली चलती रहती है। मधुर रस के लिए उन्होंने माधुर्यमयी व्रजभाषा को ही अपनाया और मानो मणि कांचन का सुन्दर संयोग उपस्थित किया। व्रजभाषा के अन्य कवियों में शब्दों को तोड़-मरोड़कर विकृत करने की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। भूषण और देव ने शब्दों का अंग-भंग किया और कहीं मनगढ़न्त शब्दों का व्यवहार किया। बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। निम्नलिखित दोहे में भाव चंचलता के साथ-साथ शृंखलाबद्ध भाष का का कितना सुन्दर उदाहरण है—

"कहत, नटत, रीझत, खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत है नैननु ही सब बात॥"

इस विशाल गुण-सम्पन्नता के कारण बिहारी का हिन्दी साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने सतसई की रचना करके कितने ही कवि और लेखकों को सतसई लिखने की प्रेरणा प्रदान की। इस ग्रन्थ का इतना मन्थन, पठन-पाठन और अनुशीलन हुआ कि जिससे काव्य सम्पत्ति की और गद्य कोष की चरम वृद्धि हुई। काव्य जगत में बिहारी सतसई का इतना प्रचार हुआ और आदर

हुआ कि बिना उसे पढ़े कोई भी पूर्ण साहित्यिक नहीं बन सकता। यह शृंगारमय ग्रन्थ शृंगार का भी शृंगार बन जाता है।

प्रश्न ३०—महाकवि देव का परिचय देते हुए उनके काव्य की विशेषताओं पर भी प्रकाश डालिए।

महाकवि देव का पूरा नाम देवदत्त था। इनका जन्म इनके अपने भावविलास के अनुसार संवत् १७३० बैठता है। ये इटावा के रहने वाले थे—'द्योसरिया कवि देव को नगर इटावो वास।' मिश्रबन्धुओं ने इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण और आचार्य शुक्ल जी ने इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण कहा है। इनके वंश-वृक्ष के आधार के अनुसार देव के पिता का नाम बिहारीलाल दुबे था।

कविवर देव का आविर्भाव रीतिकाल में हुआ था। उस समय जीवन-यापन राजाश्रय में ही होता था। उनकी जीविका का एक मात्र साधन यही था। परन्तु देव के काव्य का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि ये कई राजाओं के आश्रय में रहे; परन्तु उनकी मनोवृत्ति कहीं एक जगह नहीं रही। इसका विशेष कारण यही था कि इनको मनोनुकूल कोई आश्रयदाता न मिला जो उनको जीवन की चिन्ताओं से मुक्त कर देता, जिससे यहाँ ये स्थिरतापूर्वक रहकर सरस्वती की आराधना कर सकते। अपने आश्रयदाताओं में ये भोगीलाल से अधिक प्रसन्न दिखाई देते हैं। औरंगजेब के पुत्र आज़मशाह के आश्रय को भी इन्होंने प्राप्त किया। ये हिन्दी के प्रेमी थे। उनको इन्होंने अष्टयाम और भाव-विलास सुनाए। देव ने अपना सुखसागरतरंग नामक ग्रंथ पिहानी के अकबर अली खाँ को समर्पित किया था। इस आधार पर उनकी जीवन-यात्रा सं० १८२४ तक समाप्त हो जाती है।

कविवर देव की जीवन-लीला को देने का कार्य गो० हितहरिवंश जी ने किया। वे उनके द्वादश शिष्यों में शिरोमणि थे और राधावल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनके सम्बन्ध में कुछ किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं जिनमें से दो किंवदन्तियों का सम्बन्ध भरतपुर नरेश से है।

एक बार कवि देव जी भरतपुर नरेश के यहाँ गए। उस [illegible] का निर्माण हो रहा था। महाराज ने कवि को कुछ सुनाने क

परन्तु इन्होंने कहा, "महाराज ! इस समय सरस्वती कुछ कहने की आज्ञा नहीं देती।" महाराज के आग्रह करने पर इन्होंने कुछ छन्द पढ़ दिए, जिनमें एक का आशय यह था कि इस किले में खोपड़ियाँ लुढ़कती फिरेंगी। कहा जाता है कि यह बाद में अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। इस प्रकार की अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जिनका यह निष्कर्ष निकलता है कि देव वाक्सिद्ध कवि थे अर्थात् मुख से प्रस्फुटित हुई इनकी प्रत्येक बात सत्य होती थी। स्वाभिमान सदा जागृत रहता था और उनकी जीवन-दृष्टि गम्भीर थी—राग के साथ विराग की भावना अत्यन्त प्रबल थी।

देव के काव्य का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि देव की प्रकृति शृंगारिक थी। परन्तु उस शृंगारिकता में भी गम्भीरता की छाप थी। रीतिकाल के अन्य कवियों ने जहाँ नारी के ही सौन्दर्य का चित्रण किया है वहाँ देव जी की दृष्टि उनके सौन्दर्य से आगे उनके व्यक्तित्व तक रमी है। रसिकता के कारण प्रेम की गम्भीर निष्ठा भी वर्तमान है। प्रकृति की यह गम्भीरता देव के व्यक्तित्व का प्रधान अंग है। राग और वैराग्य के जो गहरे संस्कार उसके स्वभाव में मिलते हैं वे वस्तुतः एक ही प्रवृत्ति के दो पक्ष हैं। हृदय की इन विभूतियों के साथ मस्तिष्क भी असाधारण विभूतियों से मंडित था। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और विस्तृत पाण्डित्य से जीवन पूर्णतः परिपुष्ट था।

इस प्रकार देव का व्यक्तित्व, भावुकता, प्रतिभा आदि से समृद्ध तो था ही परन्तु भौतिक शक्ति और कार्य का सर्वथा अभाव था। अतः पूर्ण जीवन सदा कोमल तथा भावमय ही रहा।

ग्रन्थ—देव के ग्रन्थों के सम्बन्ध में कुछ लोगों का अनुमान है कि इनके ग्रन्थ ७२ हैं और कुछ की अनुमति में ५२ समझे गए हैं। वास्तव में इनके प्राप्त ग्रन्थों की संख्या भावविलास, अष्टयाम, भवानी-विलास, रस-विलास, प्रेम-चन्द्रिका, राग-रत्नाकर, सुजान-विनोद, जगद्दर्शन पचीसी, आत्मदर्शन पचीसी, तत्त्वदर्शन पचीसी, प्रेम-पचीसी, शब्द रसायन, सुखसागर तरंग, प्रेमतरंग, कुशल-विलास, जाति-विलास, देव-चरित्र, देवमाया प्रपंच आदि हैं। रस-विलास और

प्रेम-चन्द्रिका में उच्च साहित्यिक गौरव है। शब्द रसायन में आचार्यत्व, भाव विलास में रीति विवेचन तथा अन्य ग्रन्थों में अनेक उत्तम विषय हैं। इनके ग्रन्थों की संख्या ५२ अथवा ७२ तक पहुँची होगी, इसमें सन्देह है।

उपलब्ध ग्रन्थ देव के मानसिक धरातल में उत्पन्न रसों और भावों का पूर्णतः परिचय देते हैं। यौवन की तरंग में शृंगारिक रचना हुई और फिर इनका झुकाव ज्ञान और वेदान्त की ओर गया। रीति-पथियों में इनकी रचनाएँ जितनी विस्तृत हैं उतनी अन्य किसी कवि की नहीं।

कवित्व शृंगार—रीतिकाल का विवेचन करने से ज्ञात होता है कि उसमें दो मुख्य प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं—शृंगारिक और आचार्यत्व। देव की कविता में इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त एक तीसरी प्रवृत्ति भी आरम्भ से मिलती है, वह है वैराग्यभावना। इस प्रकार राग, विराग और रीति ये तीन पक्ष देव के काव्य में स्पष्ट होते हैं।

देव मूलतः शृंगार भावना के कवि थे। दो-एक ग्रंथ को छोड़कर सम्पूर्ण काव्य शृंगार की मधुर रस की धाराओं से प्रवाहित होता है। इन्होंने प्रेम की महिमा का गान किया है। इस रस को पीकर मनुष्य मरकर भी अमर हो जाता है, पागल होकर भी जगत् के रहस्यों को जान लेता है। इस प्रकार संयोग और वियोग शृंगार की दोनों अवस्थाओं का सुन्दर और विस्तृत विवेचन किया है। उनकी उद्भावनाएँ कहीं-कहीं अत्यन्त मौलिक हैं—'मधु की मक्खियों अँखियाँ भईं मेरी' 'गोरी-गोरी मुख आज ओरो सो बिलानो जात' की उक्ति, अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण तथा मार्मिक बन पड़ी है। शृंगार के कुछ चित्र उपमानों द्वारा भी चित्रित किए गए हैं। देव ने रूप सौंदर्य के भी सुन्दर चित्र खींचे। कहीं-कहीं रूप और उपभोग की वासना और उसमें प्रेम का रंग अत्यंत प्रगाढ़ हो गया है—

"देव मैं सीस बसायो सनेह के भाल मृगम्मद बिन्दु कै भाख्यो।
कंचुकी मैं चुपरी करि चोवा लगाई लियो, उर सों अभिलाख्यो॥
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि मैं कजरा करि राख्यो॥"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि देव संयोग शृंगार के वर्णन में पूर्णतः सफल

हैं। परन्तु वियोग श्रृंगार के वर्णन में इनके हृदय की वृत्ति अधिक प्रवृत्त दिखाई देती है। वास्तव में दोनों पक्षों की प्रेम-परीक्षा भी यहीं होती है। प्रेम-स्वर्ण विरह की अग्नि में तपकर निर्मल हो जाता है। विरहिणी नायिका प्रिय के विरह में अत्यंत कृश हो गई है, यहाँ तक कि अब उसकी मरणोन्मुख अवस्था जान पड़ती है। देव ने इसका चित्र भी कितनी सुन्दर व्यंजना से चित्रित किया है—

"साँसन ही सों समीर गयो, अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेजु गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
जा दिन में मुख फेर हंसी, हरि हियो जुलियो हरि जु हरि॥"

इस प्रकार देव श्रृंगार की दृष्टि से रीतिकालीन कवियों में सबसे अधिक बढ़े हुए हैं। रीतिकाल में किसी कवि ने श्रृंगार का ऐसा रससिक्त वर्णन नहीं किया है। गम्भीरता, तन्मयता, व्यंग आदि के योग से इनका श्रृंगारिक पक्ष अत्यन्त स्तुत्य है।

वैराग्य-भावना—श्रृंगार रस में आपाद-चूड़ मग्न यह कवि वैराग्य की भी गहरी भावना से ओत-प्रोत था। मनोविज्ञान की दृष्टि से विराग कोई स्वतंत्र भाव न होकर राग का रूपान्तर ही है। राग अपनी तीव्रता से थककर वैराग्य में परिणत हो जाता है। सांसारिक मनुष्य साधारणतः अतिशय राग से थककर ही तत्त्वान्वेषण अथवा परमात्म-चिन्तन करता है। अस्तु, देव का वैराग्य मूलतः अतिशय राग की प्रतिक्रिया है। उनका राग—क्लान्ति, आत्म-भर्त्सना और पराजय से युक्त वैराग्य में परिणत हो गया है। राग की यह थकान देव की वैराग्य कविता में अत्यन्त स्पष्ट है—

"हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति में मति मेरी भुलानी।
हौं समुझाय कियो रस-भोग न 'देव' तऊ तिसना बिनसानी॥
दाड़िम दाख रसाल-सिता मधु ऊख पिये औ पियूष से पानी।
पै न तऊ तरुनी-तिय के अधरान के पीवे की प्यास बुझानी॥"

आचार्यत्व—देव कवि और आचार्य दो रूपों में हमारे सामने आते हैं। संस्कृत साहित्य में आचार्यत्व और कवित्व दो भिन्न मानव-प्राणियों में मिलते

है परन्तु रीतिकाल इसका अपवाद है। आचार्यत्व की दृष्टि से देव इस रीतिकालीन साहित्य के सर्वश्रेष्ठ और सफल आचार्य हैं, जिसमें आचार्य कवियों ने काव्य का सांगोपांग विवेचन किया है। शब्द-रसायन और भाव-विलास इनके प्रमुख रीति ग्रंथ हैं।

रीति काव्य की समीक्षा करने से ज्ञात होता है कि विवेचन विषय और विवेचन शैली की दृष्टि से आचार्यों के तीन पृथक् वर्ग हैं—मम्मट तथा विश्वनाथ आदि की शैली पर विवेचन करने वाले आचार्य, शृंगार-तिलक और रसमंजरी आदि के अनुसार शृंगार-रस और उसके आलम्बन नायिका का वर्णन कराने वाले आचार्य तथा कुवलयानन्द आदि के अनुसार अलंकार मात्र का विवेचन करने वाले आचार्य। इनमें देव प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत हैं। रीतिकाल में आचार्यत्व की दृष्टि से देव अन्य कवियों की अपेक्षा बहुत बढ़े-चढ़े हैं। इनके मुकाबले में यदि होने में केशव ही समर्थ हैं। रीतिकाल के प्रवर्तक होने के कारण केशव का कार्य अधिक स्तुत्य है। केशव में पांडित्य है परन्तु देव में स्पष्टता, गम्भीरता एवं सूक्ष्म-रस-चेतना है जो आलोचक अथवा आचार्य का एक गुणवती गुण है। कवि रूप में देव का हृदय-पक्ष केशव की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। उनमें आवेग, तन्मयता, रसाद्रता केशव से अधिक है। कला-पक्ष भी देव का केशव से अधिक सम्पन्न है। छन्दों में अधिक मधुरता अथवा संगीत है। गीतितत्त्व समृद्ध और प्रचुर है। इस कारण देव कवियों की द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत हैं। हिन्दी में सूरसागर, कामायनी और रामचरितमानस के स्रष्टा ही प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

प्रश्न ३१—महाकवि बिहारी और देव की तुलना कीजिए।

किन्हीं भी दो कवियों का तुलनात्मक अध्ययन उनकी परिस्थिति, प्रवृत्ति और समय (युग) की समानता के आधार पर किया जा सकता है। कविवर देव और बिहारी दोनों ही रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि हैं। रीतिकालीन साहित्य की दो मूल प्रवृत्तियाँ हैं—रीति-विवेचन और शृंगार-भावना।

यहाँ पर 'रीति' शब्द एक विशेष प्रकार की काव्य परिपाटी (पद्धति) के अनुसरण का द्योतक है। जब उदाहरण-लक्षण वाली परम्परा में रीति

बीज भाव होती है तो वह वास्तव में रीति परम्परा बन जाती है । पर इस शृंगार-भावना ने भी सदैव एक पूर्वनिर्दिष्ट रूप में अपने आपको व्यक्त किया है। नायक-नायिका का वर्णन—नखशिख निरूपण, षट्-ऋतु वर्णन, बारहमासा। प्रत्येक रीतिकालीन कलाकार ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से इसी रचना-पद्धति से अपने काव्य सृजन में परिचालित रहा है । देव उस रचना परम्परा के प्रतिनिधि कवि हैं जिसमें प्रत्यक्ष रूप से उदाहरण-लक्षण प्रणाली को अपनाया गया है । इस प्रकार उनकी रचनाएँ काव्य-शास्त्र की शास्त्रीय मान्यताओं के विवेचन और रस-विवेचन के उदाहरण रूप में प्रस्तुत हुई हैं। इन रचनाओं का बाह्य रूप भी रीतिकालीन हैं और आन्तरिक भी । रसों के विभिन्न अवयव रस-परिपाक के विभिन्न रूप का विवेचन तथा अलंकार निरूपण, शब्द-शक्ति, गुण-परिचय ने उसके बाह्य रूप को जन्म दिया है। आन्तरिक रूप में वह इसलिए रीतिकालीन है क्योंकि पूरी काव्य-प्रेरणा आमूल शृंगारिक है। और शृंगारिकता के व्यक्तिकरण के लिए नखशिख निरूपण वाली पद्धति को अपनाया है। विहारी उस रचना परम्परा के प्रतिनिधि हैं जिसमें उदाहरण-लक्षण को प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं अपनाया गया पर अप्रत्यक्ष रूप से वह इस प्रणाली से परिचालित होते रहे हैं । उनके दोहे इस बात के साक्षी हैं कि उनका सृजन करते समय कवि का ध्यान अवश्य ही कहीं पर रस के विभिन्न अवयवों का परिचय देने की ओर रहा है। कहीं पर अलंकार छटा दिखाने की ओर रहा है और कहीं पर शब्द-सौन्दर्य की गरिमा की ओर। इससे यह तो स्पष्ट है कि उनके काव्य की प्रेरणा भी वही रीतिकालीन शृंगार परम्परा रही है—नख-शिख निरूपण, नायिकाभेद वर्णन तथा बारहमासा । अतः विहारी ने देव की भाँति नायिका भेद पर एक पृथक् कृति की रचना तो नहीं की है तथापि उनकी सतसई में खण्डिता, रूपगर्विता, प्रोषितपतिका प्रवत्स्यत्पतिका, आदि विविध नायिकाओं के रस स्निग्ध चित्र उपलब्ध होते हैं।

देव में नायिकाभेद वर्णन के प्रति अत्यधिक मोह पाया जाता है। भाव-विलास, रस विलास, कुशल-विलास तथा सुखसागर तरंग में उन्होंने अत्यन्त मनोयोग के साथ विस्तारपूर्वक नायिकाभेद वर्णन किया है। देव ने इस नायक-

नायिकाभेद वर्णन को अत्यधिक उच्च पृष्ठभूमि प्रदान करने की चेष्टा की है—

"माया देवी नायिका, नायक पुरुष आप।"

यद्यपि नायिकाभेद वर्णन की परम्परा हिन्दी को संस्कृत साहित्य से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई है परन्तु हिन्दी में सर्वप्रथम देव ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक नायिका भेद वर्णन किया है। उन्होंने अपनी मौलिक उद्भावनाओं द्वारा कितनी ही नवीन नायिकाओं का वर्णन प्रस्तुत किया है। देव का नायिका-वर्णन स्वभाव, गुण, मनोवृत्ति तथा मांसल सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रहा वरन् व्यवसाय, देश-प्रदेश तथा जाति-पाँति तक पहुँच गया है। परन्तु इन वर्णनों में 'मायादेवी नायिका, नायक पुरुष आप' वाली आध्यात्मिक भावना की झलक कहीं नहीं मिलती अपितु इन चित्रण का आधार काम-भावना को लेकर स्त्रियों के मानसिक सौन्दर्य का भी नहीं वरन् शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण हुआ है। मारवाड़ वधू के इस चित्रण से इस कथन की पुष्टि सहज ही हो जाती है—

"चित्र की सी चित्रि लिखि चत्रिनि विचित्र गति,
रची है विरंचि निज रचना विचार की।
रूप की सी मुद्रिका समुद्र गुन सील की सी,
आदर उदारताई देव तरु डार की।
काम की नसैनी कमला सी सुखदैनी पिय,
प्यारी पिक बयनी मृगनयनी मारवार की॥"

यों तो सम्पूर्ण साहित्य में शृंगार रस को प्रमुख स्थान उपलब्ध हुआ है और हिन्दी साहित्य में भी इसकी प्राथमिकता के स्पष्ट चिह्न दृष्टिगत होते हैं। परन्तु रीतिकाल में इसे विशेष आश्रय प्राप्त हुआ है। उस युग के प्रायः सभी कवियों ने तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से उत्प्रेरित होकर शृंगारिक परम्परा को विकासोन्मुख करने में योग दिया है। इन कवियों में महाकवि देव और बिहारी का स्थान सर्वोपरि है। दोनों ने ही शृंगार रस को अपनी कल्पना में परिवर्तित किया है। यही कारण है कि शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दोनों ही रूपों में तत्कालीन सामुदिक

चेतना और साहित्यिक परम्पराओं से प्रभावित हुए ।

यद्यपि दोनों ही कवियों ने सांसारिक जीवन में परकीया प्रेम की पूर्ण रूप से भर्त्सना की है "जोगहू तें कठिन संयोग पर नारी को" परन्तु फिर काव्य के क्षेत्र में परकीया के प्रेम में जो आतुरता, आत्म-त्याग, आत्म-बलिदान और निःस्वार्थ प्रेम की भावना मिलती है वह स्वकीया से नहीं पायी जाती। यही कारण है भक्तिकालीन साहित्य कृष्णकाव्य में भी परकीया प्रेम को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है । बिहारी में तो परकीया का ही विशेष प्राधान्य रहा है ।

संयोग और वियोग शृंगार दोनों ही पक्षों का अनूठा चित्रण दोनों ही कवियों में मिलता है । संयोग शृंगार रूप चित्रण और अनुभाव विधान को ही विशेष स्थान प्राप्त है । रूप चित्रण में उन्होंने नायिका की सर्वांग रूपश्री का सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक वर्णन किया है । यथा—

देव—"माखनु सो तनु दूध सो जोवनु है दधि ते अधिको उर ईठी ।
"जा छवि आगे छपाकर छाँछ समेत सुधा वसुधा सब सीठी ॥
नैननि नेह चुवै कहि देव बुझावत बैन वियोग अँगीठी ।
ऐसी रसीली अहीरी कहो क्यों न लगे मन मोहनै मीठी ॥

बिहारी—"हौं रीझी लखि रीझिहौ छबिहिं छबीले लाल ।
"सोनजुही सी होति दुति मिलत मालती माल ॥"

यद्यपि इन कवियों की शृंगार भावना प्रायः स्थूल सौन्दर्य के प्रति अभिमुख रही है । फिर भी उन्होंने सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति के द्वारा मानसिक सौन्दर्य को अत्यन्त कलात्मक ढंग से चित्रित किया है । बिहारी की एक प्रेमातुर नायिका की सखी उसके प्रियतम के पास से आई है । आने के साथ ही नायिका की उत्सुकता आकुलता और व्यग्रता की प्रबलता कितनी स्वाभाविक और सहज रूप में अभिव्यक्त हुई है:—

"फिरि बूझति कहि कहा कह्यो साँवरे गात ।
कहा करत देखे कहाँ चली अली क्यों बात ॥"

ऐसे अवसर पर नायिका का एक साथ बिना रुके अथवा उत्तर पाये हुए

प्रश्न करते चले जाना कितना स्वाभाविक है। प्रत्येक प्रेमिका अपने प्रेमी के यहाँ से आई हुई दूती से इसी प्रकार से प्रश्न करती है। बिहारी की यह स्वाभाविक मनोदशा का चित्रण वस्तुतः सराहनीय है। शेक्सपियर की रोजेलिंड भी सीलिया से इसी प्रकार कितने ही प्रश्न एक साथ पूछ डालती है—

"What did he when thou saw'st him? What said he? How looked he? Wherein went he?

देव ने भी अपने पद में इस मानव प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। गोपियों को उद्धव के ब्रज आगमन की सूचना मिलती है। वे अत्यन्त आतुर होकर श्याम का सन्देश सुनने के लिए उद्धव की ओर जा रही हैं—

"भार भये भूषन संभारे न परत अंग,
आगे को धरत पग पाछे को परत हैं।।"

यहाँ द्वितीय पंक्ति में जो मनोवैज्ञानिकता है वह अवश्य ही प्रशंसनीय है।

शृंगार को पूर्णता की अवस्था तक पहुँचाने के लिए काव्य में रूप चित्रण के साथ अनुभाव विधान का सहयोग भी विशेष रूप से अपेक्षित रहता है। वैसे तो देव और बिहारी दोनों ने ही अनुभाव का सुन्दर विधान किया है तथापि इस क्षेत्र में बिहारी का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। वस्तुतः अनुभावों के सुन्दर आयोजन में वे नितान्त अद्वितीय रहे हैं। विशिष्ट मुद्रा के अनुकूल हाव-भाव पहचानना उनके सूक्ष्म निरीक्षण और उसे अंकित कर देना उनके अद्वितीय काव्य-कौशल का परिचय देता है। कंकरीली गैल में चलने पर नायिका किस प्रकार नाक चढ़ाकर सीबी करती है यह प्रस्तुत दोहे में द्रष्टव्य है—

"नाक चढ़े सीबी करै जितै छबीली छैल।
फिरि-फिरि भूलि वहै गहै पिय कंकरीली गैल।।"

देव ने भी संयोग शृंगार का चित्रण करते समय अनुभावों का पर्याप्त विस्तृत आयोजन किया है। यद्यपि यह सत्य है कि बिहारी की भाँति वे इस क्षेत्र में अधिक विदग्धता का परिचय न दे सके तथापि प्रयत्न-पक्ष की दृष्टि से उनका अनुभाव-संयोजन भी अपने आप में अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। कुछ स्थलों पर तो वह इतना नीरस बन पड़ा है कि उनके कला-कौशल पर अर्चना की चेतना तुरन्त मुग्ध होकर रह जाती है—

"देव सुरूप की रासि निहारति पाँव ते सीस लौं सीस ते पाँयनि।
ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी हँसै कर ठोढ़ी धरे ठकुरायन॥"

अन्तिम पंक्ति के चार शब्दों में ही "हँसै कर ठोढ़ी धरे" पूरा चित्र खिंचा हुआ है।

शृंगार-वर्णन को पूर्णता प्रदान करने के लिए उसके विप्रलम्भ पक्ष का परिग्रहण नितान्त अनिवार्य है। वस्तुतः शृंगार के उत्कृष्ट रूप की सफल अभिव्यक्ति विप्रलम्भ के पदों में ही हो पाती है। क्योंकि प्रेम के अभुक्त रहने के कारण उसमें तीव्रता का अन्तर्भाव हो जाता है। रीतिकालीन कवियों में रसिकता की अतिशयता और अनुभूति की गम्भीरता में अभाव के कारण उनके वियोग वर्णन में अत्युक्ति का चमत्कार ही आ पाया है, मार्मिकता और अनुभूति की तीव्रता का प्रायः अभाव है। तीव्रता यदि है भी तो वह खण्डिता प्रसंग में ईर्षा और अतृप्त कामोद्दीपन की तीव्रता है। विहारी का वियोग-वर्णन प्रायः इसी रूप में मिलता है। उनके विरह ज्वाल वाले दोहे इसके अकाट्य प्रमाण हैं। हाँ "कागद पर लिखत न बनत कहत संदेस लजात। कहि है सब तेरो हियो मेरे हिय की बात॥" आदि पत्रिका प्रेषण और सन्देश कथन सम्बन्धी कुछ दोहों में अनुभूति की मार्मिकता का विशिष्ट अन्तर्भाव हो ही गया है। अन्यथा अधिकांश वर्णन अत्युक्ति से अतिरंजित हैं। वियोग की चार अवस्थायें होती हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण—विहारी ने वैसे तो चारों का वर्णन किया है परन्तु प्रवास विरह को उनके काव्य में सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। विहारी की अपेक्षा देव का वियोग-वर्णन अधिक स्वाभाविक बन पड़ा है। पीड़ा की गम्भीर अनुभूतियों से परिचित होने के कारण उनके विरह चित्र प्रायः अतिरंजन से मुक्त रहे हैं। उन्होंने व्याधि-जन्य कृशता के कुछ चित्र अंकित किये हैं। उनमें अतिशयोक्ति का भी उपयोग किया है—परन्तु अनुभूति का साहचर्य होने के कारण कहीं भी प्रसंग की गम्भीरता नष्ट नहीं हुई है—

"लाल विदेश वियोगिनी बाल वियोग की आगि जई झूरिझूरी।
तन सों पानी सों प्रेम कहानी सों प्रान ज्यों प्रानन यों मति दूरी॥"

"देव जू आजुही गेवे की औधि सु बीतति देखि विसेखि विभूरी।
हाथ उठायो उड़ाइवे को उड़ि काग गरे परि चारक चूरि ॥"

इसमें भाव की सरसता और अतिशयोक्ति की शक्ति से एक ऐसी तीव्रता आ गई है जो 'कनकवलयभ्रंशरिक्त प्रकोष्ठः' अथवा 'कंकन की पदवी दई तुम दिन या दई राम' जैसी उक्तियों में है।

देव और बिहारी ने स्थान-स्थान पर भक्तिपरक रचनाएँ भी की हैं। बिहारी की अपेक्षा देव का भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण अधिक व्यापक तथा गम्भीर रहा है। राम, सीता, शिव, पार्वती, दुर्गा, गंगा सभी के प्रति अपार श्रद्धा प्रकट की है।

कहीं-कहीं पर देव ने सन्तों की भाँति बाह्याडम्बरों का परित्याग कर सहज भक्ति में लीन होने का भी परामर्श दिया है। देव की भाँति बिहारी ने इष्ट सान्निध्य को प्रमुखता देकर मुक्ति को भी हेय प्रतिपादित किया है।

"जो न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकति मुँह दीन ॥"

तुलसीदास ने अनुराग के सम्मुख निर्वाण तक को कुछ नहीं समझा—

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्बान।
जन्म-जन्म रति राम पद यह बरदान न आन ॥"

परन्तु इनकी यह भक्ति अत्यधिक शृंगारिकता से घबरा कर एक प्रकार से शान्ति प्राप्त करने के लिए चेतना का विश्राम स्थल है। डा॰ नगेन्द्र के शब्दों में 'जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधाकृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन देता होगा। रीतिकाल का तो कोई भी कवि भक्तिभावना से हीन नहीं है क्योंकि भक्ति की उनके लिए मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी।'

भक्ति के साथ दोनों ही कवियों में वैराग्य-भावना भी मिलती है। देव बार-बार अपने को विषय-वासनाओं से दूर रहने का परामर्श देते हैं। ऐसे अवसरों पर उनमें भर्त्सनोचित आत्म-भर्त्सना भी आ गई है—"ऐसे जो हौं जानतो कि जैहै तू विषय के संग" वाला छन्द इनकी वैराग्य-भावना का स्पष्ट प्रमाण है। डा॰ नगेन्द्र के अनुसार तो देव का वैराग्य मूलतः अतिशय राग की प्रति-

किया ही है। उनका तीव्र राग ही क्लान्त होकर वैराग्य में परिणत हो गया है। विपरीत परिस्थितियों से आहत होकर तथा राग के तीव्र उपभोग से थककर ही वे तत्त्व-चिन्तन की ओर प्रवृत्त हुए थे। इस प्रकार यह वैराग्य थके हुए मन की पुकार है। इस वैराग्य के मूल में अत्यधिक रसिकता की प्रतिक्रिया सक्रिय है। बिहारी की वैराग्य-भावना भी अतिशय राग की प्रतिक्रिया ही है।

काव्यशिल्प की दृष्टि से देव की अपेक्षा बिहारी की कला अधिक सचेष्ट है। उन्होंने कला का माध्यम भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म ही चुना है। उनके शिल्प का मुख्य गुण सूक्ष्म जड़ाव है। नायिका की चिबुक के गोदने का वर्णन करने में उन्होंने "**मधु छाक्यो मधुकर पर्‌यो मनो गुलाब प्रसून**" में भावानुकूल कोमलकान्त मसृण शब्दावली का उत्कृष्ट विधान किया है। पर्‌यो शब्द अत्यन्त व्यंजनापूर्ण है। वह एक साथ मस्त भ्रमर के बेसुधपन, निर्द्वन्द्वता तथा निर्भयता का निर्देश करता है। इसके अतिरिक्त शृंगार-भावना के अनुकूल उपनागरिका वृत्ति वाले वर्णों द्वारा कवि ने भाव-व्यंजना को सप्राण कर दिया है। बिहारी की भाषा देव की भाषा से अधिक प्रौढ़ है। उसकी लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक शक्ति अत्यन्त विकसित तथा समास गुण से उद्भूत है। उधर देव की भाषा में झंकृति, संगीत और औज्ज्वल्य अधिक है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में 'संगीत के रेशमी तारों में इनके शब्द माणिक मोती की तरह गुँथे हुए हैं—ऐसी शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है।'

अतएव दोनों कवियों से सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय निर्णायक की रुचि पर ही निर्भर है। उचित तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में मिश्रबन्धुओं ने अपने नवरत्न में बिहारी की अपेक्षा देव को बड़ा कवि सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और इसीलिए बिहारी में कुछ दोष ढूँढ़ निकाले हैं क्योंकि उस समय आलोचना अधिकतर निर्णयात्मक होती थी। पद्मसिंह शर्मा ने अपनी "बिहारी की सतसई" में इन दोषों को निराधार सिद्ध करने की चेष्टा की। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने स्वतंत्र रूप से 'देव बिहारी' नाम से पुस्तक प्रकाशित की और उसमें भी देव को ही बिहारी से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस आलोचना

प्रत्यालोचना का लक्ष्य वस्तुतः उचित मूल्यांकन नहीं है, केवल एक दूसरे को नीचा दिखाना है।

इस प्रकार दोनों कवियों के उत्कर्ष और अपकर्षसूचक स्थानों का निर्णय तीन बातों को लेकर किया जाता है—

"भाव सादृश्य, अश्लीलता और भाषा सम्बन्धी दोष।"

वास्तव में यह स्थिति है कि जब दो रचनाकार विशेष रूप से एक ही साहित्य परम्परा को लेकर चले हों, दोनों एक ही युग की देन हों और दोनों का जीवन दर्शन एक ही हो तो उनकी कृतियों में भाव सादृश्य होना सहज और स्वाभाविक है।

अश्लीलत्व अथवा भाषा सम्बन्धी दोष किसी में कम और किसी में अधिक परिमाण में मिलता हो तो उसके आधार पर उनके पद का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष विधान नहीं किया जा सकता क्योंकि दोष तो दोष ही है चाहे वह कम हो या अधिक।

वास्तव में दोनों ही कवि रीति युग के प्रतिनिधि कवि थे। बिहारी का रचनाकाल देव से लगभग ७० वर्ष पूर्व आरम्भ हो गया था। अतएव देव का बिहारी से प्रभावित होना कोई असम्भव और आश्चर्यजनक बात नहीं है। एक-दो पदों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

बिहारी—"कहा भयो जो बीछुरे तो मन मो मन साथ।"
देव—"या तन ते बिछुरे तो कहा मन तें अनतें जो बसौं तब जानें।"
बिहारी—"पिय के ध्यान गही-गही रही वही ह्वै नारि
आप आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि॥"

देव—"राधिका कान्ह को ध्यान धरै तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै।
त्यों अँसुआ बरसै बरसाने को पाती लिखै लिखि राधे को ध्यावै॥
राधे ह्वै जाइ घरीक में देव सुप्रेम की पाती लै छाती लगावै।
आपुने आपु ही में उरझै सुरझै निरुझै समुझै समुझावै॥"

प्रश्न २२—महाकवि भूषण को आप जातीय कवि अथवा राष्ट्रीय? युक्तियुक्त उत्तर दीजिए।

कविवर भूषण हिन्दी साहित्य के राष्ट्रीय कवि थे। तत्कालीन विषम परिस्थितियों ने इन्हें राष्ट्रीय कवि होने के लिए बाधित किया। इनकी रचनाएँ तत्कालीन वातावरण का चित्र हमारे सामने उपस्थित करती हैं। इनका समय भारत की हिन्दू जनता की परीक्षा का समय था। राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से यद्यपि यह हिन्दू जाति का पतन था तथापि इस पतनकाल में भी उसमें निर्माण का शिलान्यास ही हो रहा था। काव्य साहित्य में शृंगारिक कविता का प्राधान्य था जिसमें कोई विरला ही शृंगारिक क्षेत्र को छोड़कर वीर काव्य लिखने का साहस कर सकता था। हिन्दू राजाओं की शक्ति का ह्रास हो रहा था। अकबर, शाहजहाँ तथा जहाँगीर की उदार नीति का परित्याग कर औरंगजेब ने जिस उद्देश्य से हिन्दू धर्म तथा संस्कृति पर प्रहार किया वह उसके प्रतिकूल ही सिद्ध हुआ। हिन्दू जाति में इस घोर अन्याय के समय विद्रोह और क्रांति की ज्वाला पुनः प्रज्वलित हो उठी। अकारण ही उसके प्राण लिए जा रहे थे। हिन्दू जाति के धार्मिक विश्वासों को ठेस पहुँचाई जा रही थी तथा धर्म परिवर्तन के लिए विवश किया जा रहा था। उनके सम्मुख एक ओर तो राजसी प्रलोभन थे तथा दूसरी ओर अपने धार्मिक विचारों के प्रति आस्था। एक ओर निरंकुश औरंगजेब की क्रूर और चमचमाती तलवार थी तथा दूसरी ओर मूक और शिथिल हिन्दू जनता। इस प्रकार इन प्रलोभनों में फँस कर [illegible] जाति के कुछ लोगों ने धर्म परिवर्तित कर लिया, परन्तु एक बड़ी संख्या में जनता ऐसी थी जिसने अत्याचार और अनाचार की ज्वाला में भी अपनी जाति की, अपने धर्म की रक्षा की भावना हिन्दू जाति के शुष्क हृदय में भर दी। चेतनाशून्य हिन्दू जाति एक बार फिर से वीरता के संघर्ष के लिए उद्यत हो गई। पंजाब में एक ओर सिखों ने अँगड़ाई ली, बुन्देलखण्ड में महाराज [illegible] ने [illegible] बदली और दक्षिण भारत में शिवाजी ने समर्थ गुरु राम-[illegible] में गो-ब्राह्मण और हिन्दुओं की शिक्षा के लिए तल-[illegible] विषम परिस्थिति में धर्म पर होने वाले कुठारा-[illegible] कुछ ऐसे कारण पैदा हो गये जिन्होंने हिन्दू [illegible] केन्द्रीभूत करके रणचण्डी के चरणों में समर्पित

दिया। कुछ देशभक्तों के नेतृत्व में हिन्दुओं को संगठित किया गया। कविवर भूषण भी उसी युग की देन हैं। तत्कालीन परिस्थितियों ने इनकी कविता को बल तथा प्रेरणा दी, युग ने इन्हें वाणी तथा वीर रस दिया। इनकी कविता छत्रपति शिवाजी जैसे व्यक्ति के आश्रय को पाकर मुखरित हो उठी, जिसने हिन्दू जाति को सदैव के लिए अमर कर दिया।

भूषण के समय का साहित्य-क्षेत्र भी महत्त्वपूर्ण नहीं था क्योंकि हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ में वीर कवियों की भीम गर्जना सुनाई पड़ी, परन्तु वह भी थोड़ी देर के पश्चात् समाप्त हो गई थी। भक्तिकाल की चतुर्मुखी धारा जिसने जनता के हृदय को शान्ति तथा सान्त्वना कुछ समय के लिए दी थी वह भी समाप्त हो गई। राम और कृष्ण के गुणगान के स्थान पर नायक और नायिकाओं के प्रेमालिंगन होने लगे तथा राधा-कृष्ण भी सांसारिक वासना के पाश में बंधकर जीवन की सार्थकता को भूल गए। तत्कालीन साहित्य राजाओं की विलास चेष्टाओं की परितृप्ति तथा अनुमोदन के लिए [illegible] उक्तियों के रूप में रचा जाने लगा। इस समय राजपूतों की वीरता नष्ट हो चुकी थी, हिन्दू राजाओं की तलवारें मन्द पड़ गई थीं। कवि लोग राजाओं के आश्रय में रहते थे। उनका काम केवल राजाओं की झूठी प्रशंसा करना, जीविका कमाना, शृंगारिक भावना को स्फुरित करना तथा शब्दों की कलाबाजी दिखाना मात्र था जिसमें कुछ सारभूत तत्त्व का आभास नहीं होता था। कविता कामिनी इनके हाथ की कठपुतली बन गई थी—जिसे वह विलासी दरबार में नचाते और इच्छानुसार अलंकृत करते थे। ऐसी भीषण परिस्थिति में जनता के हृदय में उत्साह तथा पवित्र भावनाओं को भरने की आवश्यकता थी, जो केवल एक सच्चे साहित्यिक नेता के द्वारा सम्भव हो सकती थी। इस प्रकार जनता की आकांक्षा को तथा तत्कालीन चेतना की माँग को कविवर भूषण ने पूरा किया। इन्होंने कविता कामिनी को विलासी दरबारों में से निकालकर रणक्षेत्र में खड़ा कर दिया। इस प्रकार भूषण की काव्य प्रतिभा दो रूपों में मुखरित हो उठी। एक ओर तो वीर शिरोमणि शिवाजी तथा दूसरी ओर कविवर भूषण के रूप में। एक ने तलवार तथा साहस का आश्रय लिया तो दूसरी ने वाणी का

जिसे चमत्कृत होते देखकर औरंगजेब की वीरता मन्द पड़ गई, अत्याचार की आँधी क्षितिज में लीन हो गई तथा एक छोर से दूसरे छोर तक समस्त भारत शांत वातावरण में साँस लेने लगा।

भूषण एक ऐसे कवि थे जिन्होंने जातीयता तथा राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर कविता की। यद्यपि ये भी अन्य कवियों की भाँति राजाश्रित थे परन्तु इनके आश्रयदाता छत्रपति शिवाजी तथा छत्रसाल राष्ट्र के सच्चे नायक तथा चेतना की प्रतिमूर्ति थे। भूषण ने उनके राष्ट्रीय रूप का चित्रण किया, उनके वैयक्तिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं पर एक पंक्ति तक नहीं लिखी। उन्होंने अपने नायक की प्रशंसा केवल इसलिए की है कि इन्होंने हिन्दू जाति की रक्षा "हिन्दुवान द्रुपद की इज्जत बचावै काज" रण क्षेत्र में युद्ध किये; जिनकी विजय हिन्दू जाति की विजय मानी जाती थी। वे कहते थे—

"समर में सरजा शिवाजी अरि सैनन को
सारु हरि लेत हिन्दुवान सिर सारु है॥"

भूषण ऐसे कवि थे जिन्हें हिन्दुओं की असहाय, पतनावस्था अखरती थी। वे कहते थे—

"राना रह्यो अटल बहाना करि चाकरी को,
बाना तजि भूषण भणत गुण भटि के।"

इनकी कविता में मुगलों की उच्छृंखलता, अनाचार तथा उद्दण्डता का स्पष्ट चित्रण मिलता है। जहाँ इसमें हिन्दू राष्ट्र का कल्याण निहित है, वहाँ जीवन-मरण का प्रश्न हल होता सो दिखाई देता है। उन्हीं वर्णनों में इनका तन्मय रूप तथा काव्य-सौष्ठव झलकता दिखाई देता है। इन्होंने अपनी तन्मयता में राष्ट्र के हृदय को आन्दोलित किया। इनका ध्यान उस ओर नहीं गया जहाँ शृंगारिकता की कलुषित धारा प्रवाहित हो रही थी। तभी तो इन्होंने काव्यधारा को एक नवीन मोड़ दिया जिसमें राष्ट्र का कल्याण निहित था तत्कालीन समाज में एक राष्ट्रीय रूप नहीं था। साम्प्रदायिकता का बोल-बाला अधिक था। इसीसे इन्होंने हिन्दू जाति की आकांक्षाओं तथा अभि-

लाषाओं का जागरूक चित्र अंकित किया । इनके शब्दों में अपार शक्ति तथा चेतना थी । इनकी जातीय भावना का रूप मिलता है शिवाजी के व्यक्तित्व में । इनके लिए शिवाजी उतने ही महान् हैं जितने सूर के लिए कृष्ण और तुलसी के लिए राम । शिवाजी औरंगजेब के प्रतिनायक के रूप में इसलिए चित्रित हैं कि वह हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू जाति का घोर शत्रु है। औरंगजेब को स्थान-स्थान पर नीचा दिखाया गया है उसकी पराजय अपरम्पारी है । इन्हीं प्रेरणाओं से प्रेरित होकर भूषण कहीं-कहीं अतिशयोक्ति से काम लेते हैं परन्तु यह अतिशयोक्ति पाठक के मन और मस्तिष्क में अधिक प्रभाव और चेतना की भावना का प्रस्फुरण करती है । नायक के प्रभाव को अंकित करते हुए वे लिखते हैं—

> "इन्द्र जिमि जम्भ पर बाडव सुअम्भ पर
> रावन सदम्भ पर रघुकुल राज है ॥"
>
> × × ×
>
> "तेज तम-अंश पर कान्ह जिमि कंस पर।
> त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज हैं ।"

यद्यपि औरंगजेब का हिन्दुओं पर अत्याचार जगत-प्रसिद्ध है तथापि शिवाजी मुसलमानों के सम्बन्ध में उदार नीति के पोषक हैं। वे सदैव मुस्लिम धर्म को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं । उनके हृदय में मुसलमानों के लिए तनिक भी घृणा एवं द्वेष का भाव नहीं था । वे तो केवल हिन्दू जाति का उद्धार चाहते थे। भूषण ने औरंगजेब की निन्दा केवल इसलिए की थी कि वह समस्त भारत को एक सूत्र में आबद्ध देखना चाहते थे। अकबर, हुमायूँ, जहाँगीर, शाहजहाँ ने इस मर्यादा को स्थिर रखा परन्तु औरंगजेब को हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य स्वीकार नहीं था। उसने इस मर्यादा को तोड़ा जिसने हिन्दुओं के धार्मिक विद्वेष को भड़का दिया। भूषण इसमें देश का अहित स्पष्ट रूप से देख रहे थे—

> "बब्बर अकब्बर हुमायूँ हद बाँधि गए,
> हिन्दू और तुरक की कुरान वेद ढब की

और बादशाहन को दूनी चाह हिन्दुन की,
जहाँगीर शाहजहाँ शाख पूरै वन की ।"

अन्त में औरंगजेब की नीति असफल हुई जिसने मुगल साम्राज्य का अन्त कर दिया । भूषण ने कुछ छन्दों में मुसलमानों को म्लेच्छ-वंश कह कर अपमानित किया है जिसका अभिप्राय मुस्लिम वर्ग विशेष से है, जिसमें औरंगजेब तथा उसकी तानाशाही का घोरतम राज्य है । उसके राजकीय अधिकारीवर्ग में ऊँचे पदों पर मुसलमान ही थे ।

भूषण की कविता में अधिकतर ऐतिहासिक दृष्टिकोण रहा है । उनके ग्रंथों में शिवाजी सम्बन्धी प्रायः सभी घटनाओं, विजयों का उल्लेख मिलता है । शिवाजी के युद्ध, शिवाजी का यश, दान तथा आतंक इन्हीं विषयों से भरपूर हैं । यद्यपि इनकी कविता में शिवाजी की प्रशंसा तथा यश-वर्णन ही मिलता है परन्तु सौभाग्य से इनका नायक प्रतापी, ओजस्वी और वीर नेता था औरंगजेब का प्रतिनायक था । इनके युद्ध वर्णन बड़े स्वाभाविक तथा तत्कालीन परिस्थिति का सजीव चित्र उपस्थित करते हैं, जिनका चित्र अंकित करने में भूषण को अन्यतम सफलता प्राप्त हुई है । युद्ध का सजीव चित्र देखिए—

"दिल्ली दल पले सलहेरि के समर सिवा,
भूषण तमासे आय देव दमकत हैं ।"

× × ×

"कहूँ रुण्ड-मुण्ड कहूँ कुण्ड भरे सोनित के,
कहूँ बख्तर करी झुण्ड झमकत हैं ।
खुले खग्ग कंध धरि ताल गति बंध पर,
धाय धाय धरनि कबंध धमकत हैं ।"

पाठकगण उनकी कविता को पढ़कर उन पर हँसते नहीं बल्कि गर्व से फूले जाते हैं । उनकी कविता रग में ओजस्विता तथा राष्ट्रीय प्रेम का संचार करती है और उनकी सुषुप्त भावनाओं को जागृत करती है । उनकी राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता थी । उस समय मुसलमान विदेशी थे । हिन्दुओं को हिन्दू बने रहने के लिए टैक्स देना पड़ता था । ऐसे वातावरण में हिन्दुओं का रक्षक राष्ट्र का

रचता था। उनके आश्रयदाता शिवाजी हिन्दू जाति के आश्रयदाता थे तभी तो भूषण लिखते हैं—

> "वेद राखे विदित पुरान राखे सार युत,
> राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
> हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
> कांधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में॥"

"राजन की हद राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में।"

भूषण के समकालीन वीर-रस के अन्य कई कवि हुए, भूषण उन सबके भूषण ठहरे। चन्द्रशेखर, लाल, सूदन, पद्माकर, जोधराज आदि सभी की कवितायों में ऐतिहासिकता तथा सत्य-प्रियता है परन्तु जो शैली, शब्द-व्यंजना, हृदय का योग तथा मार्मिक सजीव वर्णन भूषण की कविता में बन पड़ा है वह सुन्दरतम है—

> "कुण्डल के ऊपर कड़ाके उठे ठौर-ठौर,
> जीरण के ऊपर खड़ाके खड़गन के।"

> "गैल गैल फैल फैल खलक में गैल गैल
> गजन की ठेल पेल सैल उलसत है।
> सीनो धक धकत पसीनो आय देह सब,
> हीनो भयो रूप ? चितौत बाँह दाहिने !"

राष्ट्रीयता तथा वीर रस के सुन्दर और सजीव परिपाक की दृष्टि से भूषण का स्थान हिन्दी-साहित्य में अग्रगण्य तथा अद्वितीय है। अन्य कवियों की रचनाओं में विलासी आश्रय-दाताओं की मनस्तुष्टि तथा अनुचित प्रेम की शत-सहस्र उद्भावनाएँ ही प्रस्फुटित होती दिखाई देती हैं जो कि जन-जीवन के कल्याण का साहित्य न होकर व्यक्तिगत मनोरंजन के लिए है। ऐसी स्थिति में हम भूषण को ही जातीय भावनाओं के क्षेत्र में उच्च स्थान दे सकते हैं। इनकी रचनाओं में इतिहास और साहित्य का सुन्दर समन्वय हुआ है। रीति-कालीन कवियों की परम्परा में होने वाले कवि के लिए श्रृंगार के दुर्गम क्षेत्र में इतना सुन्दर अनुष्ठान करना उनके अद्भुत साहस का

यथेष्ट प्रमाण है। उनके प्रत्येक पद में मौलिकता, ओज तथा तड़प है। उन्होंने जनता की इच्छा, तड़प तथा पीड़ा में अपनी सभी मनोवृत्तियों को घुला मिला दिया है। वह मुख्यतः जनता के नेता तथा कवि हैं। हिन्दू जनता सदैव के लिए उनकी ऋणी है। जिस प्रकार हिन्दू-राष्ट्र के निर्माण में छत्रपति शिवाजी का नाम भारतीय इतिहास में अमर है, उसी प्रकार उनके कीर्ति-गायक कविवर भूषण हमारी जनता के लिए स्मृति का विषय हैं। इनकी कविता सदैव के लिए हिन्दी काव्य के पाठकों के लिए वीर भावनाओं को प्रेरित करने वाली तथा स्फूर्ति, उद्वेग और ओजस्विता को पैदा करने का उपकरण बनी रहेगी।

प्रश्न ३३—आधुनिक काल की परिस्थितियों और प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।

आधुनिक युग का आरम्भ सन् १८५० के लगभग से माना जाता है। आधुनिक काल का प्रथम चरण उस सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित है, जिसमें भारतीय वातावरण में क्षोभ, असन्तोष, सफलता के तत्त्व उभरे हुए थे। मध्य-कालीन सामन्ती व्यवस्था तथा भारतीय संस्कृति क्षीण हो रही थी। सांस्कृतिक नए जागरण की चेतना तथा व्यावसायिक क्रान्ति का प्रभाव अंग्रेजों के साथ विदेशों से भारत में भी आ पहुँचा था। तत्कालीन भारतीय दशा का वर्णन डा० रामविलास शर्मा ने इस प्रकार किया है—"एक दिन वह महल ढहकर गिर पड़ा, लखनऊ और दिल्ली की बुलबुलें उड़ गईं, लाखों किसानों का रक्त बहा। नवाबी का अन्त हुआ। लोगों ने सुख की साँस ली। रामपुर और हैदराबाद में फिर बुलबुलें चहकने लगीं।" यह दशा थी हिन्दी के उस आरम्भकाल की, जिसमें भारतेन्दु ने अपने प्रयास तथा प्रयत्नों से नव जागृत तथा नवीन विचारधाराओं के स्पन्दनों का संचार किया।

आधुनिक युग के आरम्भ में उत्पादन, आनायात, वितरण तथा विलास के नवीन साधनों का भी विकास हुआ। अंग्रेजों के प्रयत्न से उद्योग-धन्धे नष्ट किए गए। नई आर्थिक व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। अंग्रेजी शिक्षा का कवच पहिन कर अंग्रेज लोग हमारे बीच में उपस्थित हुए तथा यूरोपीय देशों का भारत पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा।

हिन्दी साहित्य का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि हमारा साहित्य जन-जीवन के कभी पास रहा कभी दूर; किन्तु सामाजिक जीवन से हमारे साहित्य का सम्बन्ध अवश्य बना रहा है। भक्तिकाल का साहित्य जन-जीवन के बीच बना, रीतिकालीन साहित्य राजदरबार की रंगीनियों में पला किन्तु सामाजिक व्यवस्था, रूप-रंग का आभास हमें इन दोनों कालों के साहित्य में भी होता है।

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। हमारी बाह्य दशाओं से आंतरिक प्रभाव अत्यन्त गहरा तथा व्यापक पड़ता है। साहित्य हमारी अन्तः साधना का कलात्मक स्वरूप है। इस प्रकार साहित्य का सम्बन्ध अंतर्जगत से होते हुए भी बाह्य जगत से होता है।

आधुनिक काल में वैज्ञानिक आविष्कारों ने जहाँ हमारी बाहरी दुनिया को बदला वहाँ समाज की चिंतन-शक्ति पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। मुद्रण की सुविधा ने हमारे ज्ञान को व्यापक तथा विचारधाराओं को जन-प्रिय बनाने के अवसर उपस्थित किए। जो साहित्य कभी ब्राह्मणवर्ग की परिधि में सीमित था वह जनता के अत्यन्त निकट आकर खड़ा हो गया। उपन्यास, कहानी, समाचार-पत्र, नाटक आदि साहित्यिक सरल रूप समाज के जीवन का एक अंग ही बन गए। अँग्रेजी के प्रभाव ने भी बौद्धिक जीवन को नवीन [illegible] प्रदान की, समाज-सुधारकों ने भी अपने सत्प्रयत्नों से नवीन बौद्धिक [illegible] का प्रचार किया। पुराने जीवन के आदर्श मान्यताओं और नई [illegible] नवीन मान्यताओं की कोंपलें विकसित हुईं।

हिन्दी के विकास के आरम्भ-काल में देशप्रेम, राष्ट्रीय [illegible] दुःख प्रकाशन, प्राचीन राष्ट्रीय वीरों के गुण-गान, [illegible] क्षोभ, सामाजिक पाखण्डों का विरोध आदि विचार [illegible] हुए। इस समय भक्ति और शृंगार की धारा [illegible] हुई थी किन्तु सामाजिक कष्टों की [illegible] न शृंगार के प्रति।

भारतेन्दु युग में साहित्य पर [illegible]

(१) साहित्य का जनता की भाषा में जनता से सम्पर्क स्थापित करना।

(२) आन्तरिक वृत्तियों के उद्घाटन में करुणा की प्रधानता।

(३) देशभक्ति तथा सामाजिक सुधार की भावनायें।

(४) धार्मिक सहिष्णुता।

(५) बाह्य जीवन का साहित्य पर प्रभाव तथा सामाजिक जीवन की साहित्य में अभिव्यक्ति।

बीसवीं शताब्दी में भारतीय साहित्य पर विदेशों के साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दी में द्विवेदी युग के अन्तर्गत जो साहित्यिक विकास दिखाई दिया वह भाषा के रूप-रंग से ही संबंधित था, किन्तु विदेशी साहित्य के प्रभाव से भारत की जाग्रत जनता की कसक छायावाद तथा रहस्यवाद के रूप में प्रकट हुई। अन्योक्तियों के माध्यम से विचार व्यक्त किए जाने लगे। वियोगी हरि का 'अन्तर्नाद' लेख अथवा माखनलाल चतुर्वेदी की 'कैदी और कोकिल' नामक कविताओं में सामाजिक जीवन की कसक, राजनैतिक दासता की पीड़ा, असफल सामाजिक वेदनाएँ ही उभरी हुई दिखाई देती हैं।

बाह्य जीवन की असफलताओं ने साहित्य में अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का विकास किया। कवियों ने अव्यक्त प्रेमवालों से नाता जोड़ा, उपन्यासकारों ने तिलस्मी दुनिया में अपने को भरमाया या यथार्थ के बीच आदर्श की स्थापना की गई। डा० नगेन्द्र के अनुसार जिन परिस्थितियों ने राजनैतिक क्षेत्र में गाँधीवाद को जन्म दिया था, साहित्य के क्षेत्र में उन्हीं परिस्थितियों ने छायावाद को जन्म दिया। यही छायावाद अपने विकास की परिधि में रहस्यवाद के रूप में प्रकट हुआ।

साहित्य के बाह्य रूप में भी जो प्रमुख परिवर्तन दिखाई दिया है वह था खड़ीबोली का ब्रजभाषा को पराजित कर अपना उचित और महत्त्वपूर्ण विकास करना तथा अनेक प्रकार की साहित्यिक विधाओं के माध्यम से जन-मन की विचारधाराओं को साकार स्वरूप प्रदान करना।

छायावादी युग में जो साहित्य निर्मित हुआ उसे दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) व्यक्तित्व प्रधान साहित्य।

(२) समाज तत्त्व प्रधान साहित्य।

व्यक्तित्व प्रधान साहित्य में काल्पनिकता का आधिक्य, प्रकृति के प्रति अनुराग, अज्ञात प्रियतम के प्रति जिज्ञासा, कौतूहल, विस्मय, सर्वांगीण सौन्दर्य-चित्रण, छायामय वर्णन, नारी आकर्षण की तीव्रता, प्रतीकात्मकता, लौकिक अभिव्यक्तियों की प्रधानता आदि अनेक तत्त्व दिखाई देते हैं। व्यक्तित्व प्रधान छायावादी काव्य के संबन्ध में विचार करते हुए महादेवी जी ने लिखा, "छायावाद ने मनुष्य के हृदय में प्राण डाल दिए, जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में चला आ रहा था, और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती है···छायावाद तत्त्वतः प्रकृति के बीच का जीवन-गीत है।" स्पष्ट है कि व्यक्तित्व प्रधान साहित्य में साहित्यकार की अपनी दुःख-सुख की तीव्र अनुभूतियों के कलात्मक रूप के ही दर्शन हुए। दूसरे शब्दों में कहें तो साहित्यकार के व्यक्तित्व का ही इस प्रकार के साहित्य में अधिक पोषण हुआ।

समाजतत्त्व प्रधान साहित्य में सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक जीवन की झाँकियाँ प्रस्तुत की गईं। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक परिस्थितियों का इस वर्ग के साहित्य में विशद वर्णन किया गया। इस प्रकार के साहित्य में निम्नलिखित वाद प्रतिफलित एवं विकसित हुए—

(१) समाजवादी यथार्थवाद (मार्क्स तथा गाँधी से प्रभावित)

(२) आदर्शोन्मुख यथार्थवाद (समाजवाद और गाँधी से समन्वित)

(३) भावप्रधान यथार्थवाद (स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित)

(४) मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद (फ्रायड के मनोविश्लेषण से प्रभावित)

इस प्रकार के साहित्य में एक ओर तो कलात्मक चित्र-वर्णन के दर्शन हुए, दूसरी ओर कलात्मकता के नाम पर अश्लीलता तथा कुरूपता का वर्णन हुआ। समाजतत्त्व प्रधान साहित्य में जीवन जगत का [illegible] तथा [illegible] का [illegible] निरीक्षण किया है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य को दुनिया के विभिन्न दर्

निस्संकोच स्थान दिया जा सकता है। हिन्दी का आधुनिक साहित्य अपनी विभिन्न विधाओं में बहुत विकसित हो चुका है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के समक्ष भारतीय स्वतन्त्रता के उपरान्त कई महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उपस्थित हुई हैं; अतः उन समस्याओं ने विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों के विकास में अवसर प्रदान किए हैं। शैलियों की दृष्टि से आज के साहित्य में निम्नलिखित तत्त्वों की प्रधानता है—

(१) भावानुकूल भाषा।

(२) प्रभाव-प्रधान-विवेचनात्मक दृष्टिकोण।

(३) बौद्धिकता का बाहुल्य।

(४) देश-काल परिस्थिति-प्रभाव चिन्तना।

(५) विचार-प्रधान विषय।

(६) विभिन्न समस्याओं का उद्घाटन।

(७) साहित्य के अन्तरंग तथा बहिरंग में नवीन प्रयोग।

इसके अतिरिक्त आधुनिक साहित्य अपने अन्य उपकरणों के कारण भी दिन-प्रतिदिन समृद्धि की ओर अग्रसर हो रहा है। आज के साहित्य में निम्न प्रवृत्तियाँ अधिक उभरी हुई दिखाई देती हैं—

(१) साहित्य की विभिन्न विधाओं के मौलिक सृजन का आग्रह।

(२) गद्य की कलात्मकता के विकास के प्रयत्न।

(३) जन-जीवन के निकट साहित्य को लाने की लालसा।

(४) बौद्धिकता तथा भावुकता का समन्वयात्मक अथवा आनुपातिक चित्रण।

(५) राष्ट्रीय, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, सांस्कृतिक समस्याओं का समावेश।

(६) साहित्यिक रूढ़ियों का विरोध तथा नवीन साहित्यिक आदर्शों की स्थापना का प्रयत्न।

(७) वाद-प्रधान साहित्यिकता का प्रसार।

(८) मनोवैज्ञानिक सत्यों का यथार्थ निरूपण।

(९) भाव निरूपण, वस्तु वर्णन, प्रकृति तथा चरित्र-चित्रण आदि में साहित्यिक सौन्दर्य के विधान का बौद्धिक प्रयत्न।

(१०) प्रान्तीय तथा विदेशी साहित्य के प्रभावों का बौद्धिक समन्वय।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों की व्याप्ति अभी कोई परिमित एवं स्पष्ट रूपरेखा नहीं है; किन्तु आधुनिक साहित्य में बादलों में छिपी जल की बूँदों की तरह इनका आभास सहज में ही लिया जा सकता है। आज का हिन्दी साहित्यकार उस कर्मभूमि की देहली पर उपस्थित है जहाँ उसे अपनी क्षमता, साधना तथा प्रयोगों की संपदा को बनाए रखने के लिए निरंतर जागरूक रहना होगा। यह साहित्य और जीवन को समन्वित करने वाली दृष्टि है, जो साहित्य को विकास और प्रगति प्रदान करती है। आज की हिन्दी का भविष्य निश्चय ही आशाजनक तथा उज्ज्वल है; अब हिन्दी के भविष्य के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर कल्पना की जा सकती है।

प्रश्न ३४—आधुनिक हिन्दी गद्य की विभिन्न विधाओं पर विचार कीजिए।

हिन्दी का आधुनिक गद्य अनेक विविध रूपों में विकसित हुआ है। हिन्दी गद्य के विकास में जहाँ काल की वैज्ञानिक सुविधाएँ सहायक हुई हैं, वहाँ साहित्य-सौन्दर्य की नित नवीन प्रेरणा ने भी इसके विकास में चार चाँद लगा दिए हैं।

आधुनिक गद्य, साहित्य की विविध विधाओं में विकसित हुआ है। हिन्दी गद्य की आधुनिक साहित्यिक विधाएँ निम्नलिखित हैं—

कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, जीवन-चरित, डायरी, संस्मरण, पत्र, रेखाचित्र, समालोचना, आत्मकथा, रेडियो नाटक, रिपोर्ताज, गद्यगीत इत्यादि।

कहानी—आधुनिक हिन्दी कहानी प्राचीन कहानी तथा शैली से भिन्न है। आज की कहानी का उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर जीवन के संबंधित किसी मार्मिक पक्ष का उद्घाटन करना है। आज की कहानी में वस्तु, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, शैली तथा उद्देश्य पर ध्यान रखते हुए कहानी-कलाकार कला का प्रदर्शन करता है। शिल्प की दृष्टि से भी आज अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखी जा रही हैं। ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि

मिला। आधुनिक हिन्दी गद्य में दो प्रकार के नाटक लिखे गये। (१) रंगमंच को ध्यान में रखकर (२) साहित्यिक-सौन्दर्य को ध्यान में रखकर।

हिन्दी साहित्य में दूसरी कोटि के नाटकों को बहुत महत्त्व दिया गया। हिन्दी साहित्यिक नाटकों के रंगमंच का अभाव अब दूर किया जा रहा है। डा० रामकुमार वर्मा नाटक को प्राण तथा मंच को उसका शरीर मानते हैं। हिन्दी के प्रारम्भिक नाटकों की अपेक्षा आज का नाटक-साहित्य बहुत आगे बढ़ गया है। हिन्दी के प्रमुख नाटककारों में प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदय-शंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, गोविन्ददास आदि का नाम लिया जा सकता है।

एकांकी नाटककारों में डा० रामकुमार वर्मा, अश्क, उग्र, विष्णु प्रभाकर, उदयशंकर भट्ट आदि का नाम उल्लेखनीय है। आधुनिक नाटकों की अपेक्षा आज एकांकी नाटक का प्रचार अधिक बढ़ता जा रहा है। आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य को अभी बहुत विकसित होना है। किन्तु आज के विकास को देखकर भी निराश होने की आवश्यकता नहीं रहती।

निबन्ध—आधुनिक हिन्दी निबन्ध अपने निबंध शब्द की सार्थकता को सिद्ध करने में सफल रहा है। बाबू गुलाबराय के अनुसार निबंध उस रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव, सजीवता तथा आवश्यक संगीत और सम्बद्धता के साथ किया गया हो। आचार्य शुक्ल भी निबंध को गद्य की कसौटी स्वीकार करते हैं। हिन्दी का गद्य साहित्य बहुत विकसित हुआ है। बालकृष्ण भट्ट के निबंधों का विकास, रामविलास शर्मा के निबन्धों में तथा महावीरप्रसाद द्विवेदी की निबंध कला का विकास हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों में देखा जा सकता है। आज विवेचनात्मक, गवेषणात्मक, भावात्मक, अनेक प्रकार के निबंध लिखे जा रहे हैं।

आधुनिक निबंध लेखकों में नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामविलास, शिवदानसिंह चौहान आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

जीवनी—जीवनी में किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व विभिन्न परिस्थितियों, प्रसंगों के बीच चित्रित किया जाता है। जीवनियों के दो ही रूप हैं—आत्मकथा के रूप में तथा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा वर्णनात्मक रूप में लिखा जाना। हिन्दी

में दोनों प्रकार की जीवनियाँ लिखी गई हैं। पं० नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद तथा गाँधी जी ने अपनी जीवनी स्वयं लिखी है। हमारे राष्ट्रीय नेताओं, साहित्यकारों की जीवनियाँ अन्य साहित्यकारों द्वारा भी लिखी गई हैं। इन्हीं जीवनियों का एक विशेष रूप संस्मरण भी है। संस्मरण में व्यक्ति अपने अनुभव-खण्डों को व्यक्त करता है। किन्तु जीवनी और संस्मरण एक ही नहीं समझे जाने चाहिए। हिन्दी में संस्मरण लिखने वाले साहित्यिकों में बनारसीदास चतुर्वेदी, शिवपूजनसहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी, रामनाथ सुमन, महादेवी वर्मा आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार कुछ यात्रा वर्णन सम्बन्धी पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं जिन्हें संस्मरण विधा के अन्तर्गत ही गिना जा सकता है।

गद्य-काव्य—मार्मिक अनुभूतियों का गद्य के माध्यम से व्यक्त करना गद्य काव्य कहलाता है। इसमें प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग होता है। हिन्दी में रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, अज्ञेय, शर्मा आदि गद्य काव्य लिखने में सफल हुए हैं।

रिपोर्ताज—यह शब्द अंग्रेजी के रिपोर्ट से बना है। इसमें लेखक अपनी देखी गई घटनाओं का प्रत्यक्षदर्शी की तरह ही वर्णन करता है। हिन्दी में यह नवीन प्रयोग ही समझना चाहिये। रिपोर्ताज लेखकों में [illegible] गुप्त, प्रभाकर माचवे, रांगेय राघव, अमृतराय आदि का नाम [illegible] है।

रेखाचित्र—लेखनी के माध्यम से [illegible] का चित्र प्रस्तुत करना रेखाचित्र कहलाता है। रेखाचित्र [illegible] का मिला-जुला रूप है। रेखाचित्र में लेखक अपने [illegible] अनुभवों को सजीव कर देता है। हिन्दी में महादेवी वर्मा, [illegible] चतुर्वेदी आदि ने उत्तम रेखाचित्र लिखे हैं।

समालोचना—समालोचना [illegible] रचना का मूल्यांकन [illegible] है, यह कृति के गुण दोषों का विवेचन [illegible] श्यामसुन्दरदास के [illegible]
"यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो [illegible]
व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।"

उपर्युक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि [illegible]

परिचय तथा समालोचक की सम्मति निहित रहती है। समालोचक अपनी सम्मति न देकर यह कार्य पाठकों पर ही छोड़ देता है।

हिन्दी साहित्य की समस्त विधाओं के संक्षिप्त परिचय को पाकर यह सहज ही कहा जा सकता है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने योग्य साहित्यिक प्रगति तो कर ही चुकी है, किन्तु उसे अन्य अध्ययनों की दिशाओं में अभी बहुत आगे बढ़ना है।

प्रश्न ३५—हिन्दी गद्य के विकास पर एक लेख लिखिए।

रीतिकाल के पश्चात् हिन्दी साहित्य में हम अनेक दृष्टियों से परिवर्तन पाते हैं। रीतिकाल की पद्यमयी शृंगार से सुसज्जित लोचमयी भाषा एक नवीन चेतना में आई। इसी कारण यह काल आधुनिक काल कहलाया। इस काल में पद्य के साथ-साथ गद्य भी लिखा जाने लगा और लेखकों की अधिकतर प्रवृत्ति गद्य की ओर ही रही। गद्य में ब्रजभाषा को हटाकर खड़ी बोली को अपना लिया गया। कविता के लिए अवश्य ही ब्रजभाषा रही। युग का प्रभाव भी कविता पर पड़े बिना न रह सका इसलिए कवियों का ध्यान रीतिकाल की विलासमयी भावना से हटकर देश-प्रेम, समाज-सुधार, विद्या-प्रचार आदि विषयों की ओर प्रवृत्त हो गया।

भावाभिव्यक्ति के दो साहित्यिक रूप हैं—गद्य और पद्य। साहित्य के विकास में हम पद्य का स्थान प्रथम मानते हैं। पद्य साहित्य छन्दबद्ध एवं गीतात्मक होने के कारण शीघ्र ही प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है तथा कण्ठस्थ करने में भी सुविधा रहती है। मुद्रणकला के अभाव में पद्य का विकास स्वाभाविक ही था परन्तु ज्यों-ज्यों प्रेस और कागज की सुविधा होती गई वैसे-ही-वैसे गद्य-साहित्य भी बढ़ता गया। हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने पर यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि साहित्य का विकास धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि से देश के संक्रान्ति काल में हुआ। उस समय देश में चारों ओर निराशा के भाव छाये हुए थे। परिणामस्वरूप देश में मनोरंजक उपन्यासों तथा नाटकों का अभाव है; कहीं-कहीं फारसी के शब्द भी पाये जाते हैं। संवत् १६६० के लगभग नाभादास जी ने 'अष्टयाम' पुस्तक ब्रजभाषा गद्य में लिखी।

१६८० के लगभग वैकुण्ठमणि ने 'अगहन माहात्म्य और वैशाख माहात्म्य' लिखा।

इस प्रकार कुछ ब्रजभाषा गद्य की पुस्तकें पाई जाती हैं किन्तु इनसे गद्य का क्रमिक विकास नहीं मिल पाता।

आरम्भ में फकीर और गुरुओं की रचनाओं में व्यवस्थित भाषा नहीं पाई जाती। अकबर के समय में 'गंग' कवि ने 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक गद्य की पुस्तक खड़ी बोली में लिखी। इससे स्पष्ट है कि उर्दू से भिन्न खड़ी बोली शिष्ट समाज की भाषा हो चली थी।

संवत् १७६८ में रामप्रसाद निरंजनी ने व्यवस्थित भाषा में 'भाषायोग वशिष्ठ' लिखा तथा १८१८ में पटना निवासी दौलतराम ने रविषेणाचार्य कृत जैन पद्म पुराण का भाषानुवाद किया। इससे ज्ञात होता है कि खड़ीबोली भी अपना स्थान विस्तृत रूप में फैलाती जा रही थी और शिष्ट समाज में दो प्रकार की भाषा हो गई थी। इस कारण अंग्रेजों को शिष्ट समाज में दो प्रकार की भाषाएँ मिलीं—(१) खड़ीबोली का सामान्य देशी रूप। (२) दरबारी रूप।

संवत् १८६० में फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दी, उर्दू अध्यापक जान गिल क्राइस्ट ने देसी भाषा में गद्य की पुस्तकें लिखने के लिए लेखकों को उत्साहित किया। इस समय मुंशी सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्ला खाँ, श्री लल्लूलाल तथा सदल मिश्र ने गद्य के विकास में अपना पूर्ण सहयोग दिया।

मुंशी सदासुखलाल—इन्होंने विष्णु पुराण से एक प्रसंग लेकर एक पुस्तक लिखी जो पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है तथा इसमें स्थान-स्थान पर शुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग किया तथा श्रीमद्भागवत का 'सुखसागर' नाम से अनुवाद भी किया।

संवत् १८५५-१८६० के बीच में इंशाअल्ला खाँ ने रानी केतकी की कहानी लिखी। इनका उद्देश्य ठेठ हिन्दी लिखने का था, "जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। XXX हिन्दवीपन भी न निकले और

न हो।" इनकी भाषा चटकीली, मुहावरेदार और चलती है। 'भाखापन' दूर रखने पर भी फारसी का वाक्य-विन्यास इसमें आ गया है।

इसके अतिरिक्त लल्लूलाल ने प्रेमसागर और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा।

१८६० में ईसाई धर्म प्रचारकों का नाम प्रमुख है। विलियम केरे ने धर्म पुस्तकों का अनुवाद विशुद्ध हिन्दी भाषा में किया। ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रचार से विचलित होकर राजा राममोहन राय उपनिषद् और ब्रह्मज्ञान लेकर प्रचार करने लगे। शिक्षा के आन्दोलन के साथ ही ईसाई मत का प्रचार रोकने के लिए मत-मतान्तर सम्बन्धी आन्दोलन देश के पश्चिमी भागों में चल पड़े जिससे गद्य के विकास में सहायता पहुँची। स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' तथा वेदों के भाष्य हिन्दी भाषा में प्रकाशित किए। वैसे तो लक्ष्मणसिंह के समय में ही गद्य की भाषा काफी सुधार का रूप पा चुकी थी परन्तु अब तक ऐसे लेखों और कहानियों का विकास नहीं हो पाया। जनता की भावनाएँ पद्य में ही विकसित होती रहीं।

हिन्दी साहित्य के तीन कालों में तो पद्य का ही बाहुल्य रहा। इस काल में जो गद्य लिखा भी जाता था वह भी ब्रजभाषा में। कवि लोग अपने भावपूर्ण विचार तथा अनुभूति ब्रजभाषा में ही प्रकट करते थे और इसी भाषा में ही आनन्द लेते थे। ब्रजभाषा का प्रथम गद्य चौदहवीं शताब्दी का है परन्तु इसकी प्रामाणिकता में आलोचकों को सन्देह है। महाराज पृथ्वीराज और चित्तौड़ के रावल समरसिंह के दानपत्रों, शिलालेखों तथा सनदों पर भी गद्य के कुछ नमूने मिलते हैं। किन्तु उनमें गद्य का परिमार्जित रूप नहीं है। इस शताब्दी में कुछ ग्रन्थ गोरखपंथी सम्प्रदाय के डिंगल मिश्रित ब्रजभाषा में उपलब्ध होते हैं किन्तु इनमें गद्य की परिष्कृत शैली नहीं पायी जाती। सं० १४०७ में गद्य का प्रथम रूप गुरु गोरखनाथ की हठयोग एवं ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी पुस्तकों में है। पन्द्रहवीं शताब्दी को हम गद्य की उत्पत्ति का काल मान लेते हैं क्योंकि इसमें गोरखनाथ का लिखा हुआ 'सिद्ध प्रमाण' ग्रन्थ गद्य का प्रथम रूप है।

इसके उपरान्त सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोस्वामी विट्ठल-

नाथ ने 'शृंगार रस मण्डन' नामक ग्रन्थ गद्य में लिखा। सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विट्ठलनाथ जी के सुपुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ ने "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" तथा "वन यात्रा" नामक तीन ग्रन्थों की रचना की। ये वार्तायें साहित्यिक दृष्टि से नहीं लिखी गईं इसलिए इनमें कृत्रिमता की आवश्यकता थी जो अपनी प्रतिभा से इनको शुद्ध स्थायी तथा परिमार्जित साहित्यिक रूप दे सके। ठीक इसी समय ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदय हुआ। उन्होंने इस अभाव की पूर्ति की। इन्होंने लेखकों का एक मण्डल तैयार किया तथा अन्य लेखकों को हिन्दी लिखने के लिए प्रोत्साहित करते रहे। श्रीनिवास भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, सुधाकर द्विवेदी आदि लेखक इनके मण्डल के मुख्य लेखक थे। इन सबकी शैलियों में इनकी व्यक्तिगत विभिन्नता लक्षित होती है।

भारतेन्दु की शैली बड़ी ही सरल तथा बोलचाल की भाषा है। संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग इनकी शैली में मिलता है। लोकोक्तियों और मुहावरों के साथ-साथ हास्य और व्यंग का भी सुन्दर समन्वय किया गया है। अपने अथक प्रयत्न के द्वारा इन्होंने गद्य का नवीन जन्म दिया।

इस समय के लेखक अधिकतर किसी-न-किसी पत्रिका का सम्पादन किया करते थे। सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं।

भारतेन्दु जी के पश्चात् हिन्दी साहित्य में द्विवेदी जी का प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि भारतेन्दु के समय गद्य का काफी विकास हो चुका था तथापि व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ उसमें रहती थीं। द्विवेदी जी ने व्याकरण की शुद्धता को मुख्य माना और इसमें सुधार किया। द्विवेदी जी सरस्वती पत्रिका के सम्पादक थे इसलिए लेखकों की अशुद्धियों की ओर अपने पत्र में उनको सावधान किया करते थे। इस प्रकार भाषा में अधिक निखार हुआ। बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० रामनारायण मिश्र तथा ठाकुर शिवकुमारसिंह ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की। इस सभा के उद्देश्य थे—नागरी अक्षरों का प्रचार तथा हिन्दी साहित्य की वृद्धि।

प्रश्न ३६—आधुनिक हिन्दी कविता के विकास पर एक लेख लिखिए।

वास्तव में आधुनिक काल में गद्य एक विशिष्ट स्थान लिए हुए है। गद्य का कल्पनातीत विकास इस युग में हुआ परन्तु गद्य के साथ-साथ पद्य की भी गति इस युग में बढ़ती रही। गद्य के आरम्भिक विकास काल में पद्य का वह बोलबाला तो रहा जो भक्तिकाल और रीतिकाल में था किन्तु फिर भी कुछ लेखक रीतिकालीन परम्परा के अनुसार पद्य की रचना करते रहे। सेवक, महाराज रघुनाथसिंह, रामसनेही आदि इस कोटि के कवियों की गणना में आते हैं।

गद्य क्षेत्र में नवीनता लाने के लिए भारतेन्दु जी ने गद्य को परिष्कृत और परिमार्जित रूप दिया तथा काव्य-भाषा के लिए अपने कवित्त और सवैयों से उन शब्दों का बहिष्कार किया जो अपने अभीष्ट अर्थ को त्याग चुके थे। इसके सुधार के लिए इन्होंने कवि समाज स्थापित किए तथा समस्यापूर्ति के द्वारा कवियों को प्रेरणा देने की सुन्दर योजना रखी। इस प्रकार भाषा, भाव तथा शैली की दृष्टि से काव्य को रीतिकाल की अपेक्षा नवीनता प्रदान की। कवियों का विषय स्वदेश स्वभाषा तथा स्वधर्म आदि बन गया था। भारतेन्दु जी की राष्ट्रीय भावनाओं ने अन्य कवियों के हृदयों में प्राण फूँक दिए। श्री पंडित अम्बिकादत्त व्यास, प्रेमघन तथा जगमोहन सिंह आदि ने इसी प्रकार की रचनाएँ कीं तथा कविता को आकर्षक विषय बनाने में बहुत कुछ सफल हुए।

नवीन धारा में उन कवियों की रचनाएँ आती हैं जिन्होंने विषयवस्तु के साथ-साथ प्रक्रिया में भी नवीनता का संचार किया। भारतेन्दु जी इस धारा के प्रवर्त्तक थे। इनकी कविता का प्रथम गुण था देशभक्ति। इनके साथ-ही-साथ अन्य कवि भी इस ओर प्रवृत्त हुए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल के कवियों को 'नर प्रकृति' का कवि कहा है, क्योंकि प्रकृति के बाह्य अनेक रूपों की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित न हो सका। पं० श्रीधर पाठक ने अवश्य प्राकृतिक सौंदर्य पर कविताएँ लिखीं। अंग्रेजी कविता में जिस प्रकार 'रोमान्टिसिजम' के आधार पर 'काउपर' तथा 'स्काट' आदि ने सरस भावाभिव्यक्ति की उसी प्रकार पाठक जी ने सीधी-सादी शैली में सुन्दर भावों

की अभिव्यक्ति की। छन्दों की विविधता, अभिव्यक्ति की स्वच्छन्दता तथा प्रकृति के प्रति ममत्व आदि भावों को लेकर कविता का रूप ही बदल दिया। महावीर प्रसाद द्विवेदी के आगमन ने कविता की गति को ही बदल दिया तथा संस्कृत पदावलियों के आधार पर 'इतिवृत्तात्मक' कविता रची जाने लगी।

द्विवेदी युग के कवियों में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा मैथिलीशरण गुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'भारत भारती' का हिन्दी क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है। गुप्त जी की प्रतिभा की विशेषता है कि समयानुसार वह विकास की ओर बढ़ती ही रही। इसी कारण आज 'राष्ट्रकवि' के रूप में गुप्त जी हमारे सामने आते हैं। उपाध्याय जी की प्रतिभा का परिचय 'प्रियप्रवास' तथा वैदेही वनवास' में मिलता है। राम और कृष्ण की प्राचीन गाथाओं को नवीन शैली में प्रस्तुत करने में यह इतने सफल हुए कि इनके बाद अन्य कवियों ने इस ओर ध्यान देना आरम्भ किया। नाथूराम शंकर शर्मा, 'सनेही', रूपनारायण पाण्डेय, सियारामशरण तथा पं० रामचरित उपाध्याय आदि ने खड़ी-बोली में अपने-अपने काव्य की रचना की।

द्वितीय उत्थान में खड़ीबोली की कविता अपने विकसित रूप में आ चुकी थी। लय, गति, यति, छन्दों में परिवर्तन, वस्तु विधान तथा अभिव्यंजना शैली में नूतन प्रवृत्तियों का समावेश इस काल में हुआ। साम्राज्यवाद तथा सामन्तशाही के विरुद्ध आवाज उठाने वाले अनेक आन्दोलन काव्य-क्षेत्र में सुनाई दिये। नवीन भावनाओं, विचारों तथा प्रवृत्तियों को काव्य में स्थान दिया जाने लगा। कविता में कल्पना की वेदना की प्रवृत्ति तथा भाव की वेगवती व्यंजना पाई जाने लगी जिसके फलस्वरूप प्राचीन विषयवस्तु परिवर्तित हो गई। प्रारम्भिक कविताओं में एक प्रकार की अव्यक्त "रहस्य भावना" पाई जाती है जो काव्य में 'रहस्यवाद' के नाम से प्रकट हुई। गुप्त, प्रसाद तथा मुकुटधर पांडेय इसके प्रमुख कवि हैं।

रहस्यवाद के साथ-साथ इस युग में एक और वाद पाया जाता है, जिसको शुक्ल जी ने 'छायावाद' का नाम दिया है। छायावाद का अर्थ हम बहुत ही सीमित तथा अपूर्ण पाते हैं। शुक्ल जी अपने इतिहास में छायावाद की व्याख्या

करते हुए कहते हैं कि "प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत प्राक्कथन ही छायावाद कहलाता है।" छायावाद की रहस्यात्मकता की दृष्टि से प्रसाद और महादेवी का स्थान बहुत ऊँचा है। छायावाद की शैली के प्रणदाता 'पंत' तथा श्री निराला जी कहे जाते हैं। रहस्यवाद की भावना को अस्पष्ट रूप से चित्रित करने वाले कवियों में श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' हैं। राष्ट्रप्रेम के आधार पर श्री दिनकर तथा नवीन जी ने अद्वितीय रचनाएँ उपस्थित की हैं। संक्षेप में श्री प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी वर्मा तथा रामकुमार वर्मा आदि ने छायावाद को अपनाकर उच्चकोटि की रचनाएँ की हैं।

इसके पश्चात् कवियों ने जीवन, बल तथा जागृति आदि भावनाओं को काव्य का विषय बनाया। छायावाद आलोचकों की दृष्टि में 'पलायनवाद' समझा जाने लगा। नवीन धारा के कवि प्रगतिवादी कहलाए जाने लगे। इस प्रगति की प्रेरणा हिन्दी में राजनीतिक आन्दोलन से आई किंतु इसे साहित्यिक रूप पंत ने दिया। पन्त के 'युगवाणी' 'युगांत' तथा 'ग्राम्या' आदि में प्रगतिवाद का उज्ज्वल रूप है। छायावाद व्यक्तिवादी ही रह गया और प्रगतिवाद समष्टि की चेतना लेकर कविता क्षेत्र में अवतरित हुआ। नारी का सौन्दर्य, कोयल का मस्ती भरा गान, प्रकृति की चेतना तथा कल्पनाओं की सुन्दरता का स्थान इस जड़ जगत् की सभ्यता ने अपना लिया। कवि इस युग में सपनों की दुनिया में जाना नहीं चाहता था बल्कि—"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए' का ही राग गाने लगा था। मजदूर, किसान, शासित वर्ग तथा पीड़ित वर्ग आदि पर ही उनकी लेखनी उठती थी। साधारण से कटु विषय को लेकर कवि लोग उसमें सत्यता का पुट देकर सौंदर्य प्रदान करते थे। यह मार्क्सवाद की मूल प्रेरणा रोटी, कपड़ा तथा आर्थिक समस्याओं पर आधारित थी। धैर्य, ईश्वर तथा भाग्य के प्रति इसकी आस्था नहीं थी। वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखने के कारण अर्थमूलक समस्याएँ इस स्थान में आती हैं। नरेन्द्र शर्मा, अज्ञेय, अंचल, शिवमंगलसिंह 'सुमन', गिरिजाकुमार माथुर तथा भारत-भूषण अग्रवाल आदि इस कोटि के प्रमुख कवि हैं।

प्रगति के पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप हिन्दी में प्रयोगवाद का उदय हुआ। इस धारा के कवि कला और शिल्प के प्रति जागरूक हैं तथा शैली और वस्तु दोनों में ही प्रयोगशीलता को प्राथमिकता देते हैं।

श्री बच्चन, उदयशंकर भट्ट, नेपाली आदि भी नवीन गीतों का सृजन कर रहे हैं। प्रबन्ध काव्य, मुक्तक, गीत, अतुकांत कविता आदि के विकास में अभिवृद्धि कर रहे हैं।

प्रश्न ३७—हिन्दी नाटकों के विकास पर एक लेख लिखिए।

नाटक की गणना दृश्य काव्य के अन्तर्गत की जाती है। मनोरंजन के साधनों में नाटक एक महत्वपूर्ण तथा प्रमुख साधन है। पात्रों के कुशल अभिनय, रंगमंच तथा कथोपकथन आदि के द्वारा लेखक अपनी कथा को पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है। अब विचारणीय यह है कि नाटक का जन्म कब, कैसे तथा किन परिस्थितियों में हुआ।

हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि नाटक का सूत्रपात सत्रहवीं शताब्दी में हुआ था। १६६२ में श्री बनारसीदास ने 'समय सार' जैन कवि कुन्द कुन्दाचार्य के नाटक का भाषान्तर किया। प्राणचन्द ने 'रामायण महानाटक' दोहा-चौपाइयों में कथोपकथन के रूप में लिखा। देव कृत 'देवमाया प्रपंच' नाटक भी पद्यमय रूप में पाया जाता है। १६८० में हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' का अनुवाद किया। 'प्रबोध चन्द्रोदय' का संस्कृत के नाटकों में प्राधान्य रहा। ये केवल धार्मिक कथाओं को ही लेकर लिखे गए हैं। ये नाटक की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं। अठारहवीं शताब्दी तक नाटक बिल्कुल ही निर्बल तथा गतिहीन रहा। इसका प्रमुख कारण था गद्य का अभाव होना। यद्यपि ब्रजभाषा में गद्य का प्रचार हो चुका था तथापि यह नाटकों की वृद्धि में सहायक न हो सका। इसके अतिरिक्त रंगमंच का भी अभाव था। नौटंकी, रामलीला तथा स्वाँग आदि के द्वारा ही मन बहला लिया जाता था।

१८वीं सदी के अनेक अनुवादों में विश्वनाथसिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक को भारतेन्दु जी ने प्रथम गद्य नाटक माना है। ब्रजभाषा में सबसे प्रथम गद्य नाटक भारतेन्दु जी के पिता श्री गिरधरदास कृत 'नहुष' माना।

लक्ष्मणसिंह ने शकुन्तला के अनुवाद में गद्य भाग खड़ी बोली में तथा पद्य भाग ब्रजभाषा पद्य में किया है। इस प्रकार भारतेन्दु से पूर्व नाटकों में तीन विशेषताएँ मिलती हैं। प्रथम तो अधिकांश अनुवाद थे। दूसरे धार्मिक एवं पौराणिक थे तथा तीसरे वे जो ब्रजभाषा में लिखे गये जिनका अधिकांश भाग पद्य में ही था।

हिन्दी क्षेत्र में भारतेन्दु जी के आते ही हिंदी नाटक साहित्य में एक नवीन चेतना आ गई। अंग्रेजी नाटकों का प्रचार हो चुका था तथा बंगला नाटकों पर इसकी छाप पूर्णरूप से लक्षित हो रही थी। भारतेन्दु जी के नाटकों में न तो प्राचीनता का अन्धानुकरण पाया जाता है और न ही आधुनिक शैली का अनुकरण। 'अंधेर नगरी', 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटकों के कथानकों में नवीनता पाई जाती है तथा वर्तमान परिस्थिति के अनुरूप धार्मिक ढोंग, मद्यपान आदि को भी चित्रित किया है। भारतेन्दु जी के नाटकों के विषय प्रायः शृंगार, हास्य, कौतुक तथा देश-प्रेम रहे हैं। 'विद्यासुन्दर' 'चौर पंचाशिका' बंगला के नाटक का छायानुवाद है। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" एक सुन्दर प्रहसन है। 'प्रेमयोगिनी' आत्मकथात्मक है। 'भारत दुर्दशा' तथा 'भारत जननी' में देश की दुर्दशा को चित्रित किया है। इस प्रकार भारतेन्दु जी के नाटकों में सामाजिक दशा का अच्छा चित्रण मिलता है। भारतेन्दु जी प्रथम नाटककार थे। इन्होंने अपने नाटकों को अभिनयानुकूल बनाने का प्रयत्न किया है।

भारतेन्दु जी कलाकार थे तथा अन्य कलाकारों को प्रेरणा दिया करते थे। समसामयिक नाटककारों में श्रीनिवासदास का नाम उल्लेखनीय है। 'तृप्ता' 'संवरण' 'प्रह्लादचरित्र', 'संयोगिता स्वयंवर' आदि नाटकों की आपने रचना की। श्री बदरीनारायण चौधरी के 'भारत सौभाग्य' से कुछ-कुछ आशा का संचार तो हो गया था, किंतु कला की दृष्टि से यह नाटक महत्वपूर्ण नहीं है। पं० गदाधर भट्ट ने 'रेल का विकट खेल' 'बाल विवाह' तथा 'चंद्रसेन' सामाजिक नाटक लिखे। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'गो संकट', 'कलि प्रभाव' आदि नाटकों की रचना की। श्री राधाकृष्णदास जी ने 'दुखिनी बाला' लिखकर तत्कालीन सामाजिक दुर्दशा का वर्णन किया। श्री केशवदेव भट्ट ने 'सज्जाद

सम्मुल' 'रामशाप सौसन' नाटक लिखे । अन्य नाटककारों में राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, देवकीनन्दन, गोपालराम गहमरी तथा बालकृष्ण भट्ट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । इस समय की रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं ठहरतीं । इस समय के नाटककारों का झुकाव सामाजिक चित्रण की ही ओर था ।

समय की गति के साथ ही नाटकों के क्रम में गति आई । यह उत्थान द्वितीय उत्थान के नाम से पुकारा जाता है । इस समय श्री द्विजेन्द्रलालराय तथा रवि बाबू के नाटकों का धड़ाधड़ अनुवाद हो रहा था । अनुवादों के अतिरिक्त कुछ मौलिक नाटकों की रचनाएँ हुईं, जिनमें साहित्यिकता के अतिरिक्त पारसी रंगमंचों पर भी ध्यान दिया जाता था । मिश्रबन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' तथा गुप्तजी का 'चंद्रहास' आदि इसी कोटि की रचनाएँ हैं । पं० राधेश्याम कथावाचक, हरिकृष्ण जौहरी तथा नारायणप्रसाद बेताब आदि ने नाटक कम्पनियों के लिए नाटकों की रचना की ।

नाटकों के विकास का तृतीय उत्थान श्री जयशंकरप्रसाद जी के आगमन से माना जाता है । इस समय धार्मिक विषयों से हटकर कुछ सामाजिक तथा कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गये । चरित्र का विकास तथा अंतर्द्वन्द्व ही इस समय के नाटकों की विशेषता थी । प्रसाद का प्रत्येक पात्र अपनी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है । प्रसाद कवि के साथ-साथ इतिहास-ज्ञाता तथा दार्शनिक भी थे । भारतीय सभ्यता की विशेषता दर्शाने में प्रसाद जी नारियों को विशेष महत्व देते हैं । 'करुणालय', 'अजातशत्रु', 'चंद्रगुप्त', 'कामना' आदि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं ।

प्रसाद युग के अन्त में हरिकृष्ण प्रेमी ने मुगलकालीन भारत को गदर करते हुए 'रक्षाबन्धन' तथा 'जौहर' आदि नाटक लिखे ।

लेखक या कवि कल्पनाओं के संसार से ऊबकर जब वास्तविक जगत की भूमि पर आता है तब जीवन की कटुताओं को एक खोजपूर्ण दृष्टि से देखता है । इसी प्रकार अब नाटकों का विषय ऐतिहासिक आदि न रहकर मध्य वर्ग का विषय बन गया । सुदर्शन, गोविन्दवल्लभ पंत तथा ह

आदि इस कोटि के नाटककारों में आते हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिंदूर की होली', 'राजयोग' आदि बहुत ही महत्त्वपूर्ण नाटक हैं।

वर्तमान समय में एकांकी नाटक बहुत ही महत्वपूर्ण हैं क्योंकि मनुष्यों का जीवन इतना व्यस्त हो गया है कि उनके पास इतना अवकाश नहीं है कि वह लम्बे-लम्बे नाटकों को देखें। रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर प्रसाद, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास तथा उदयशंकर भट्ट आदि का इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस युग के जितने भी साहित्यिक नाटक लिखे गये हैं सब अभिनय के दृष्टिकोण को लेकर ही रचे गये हैं। पिछले बीस वर्षों से रंगमंच का स्थान सिनेमा ने ले लिया है। परन्तु श्री विष्णु प्रभाकर, भट्ट, अश्क, भगवतीचरण वर्मा तथा रामचंद्र तिवारी आदि एकांकी लिखकर इसके भविष्य को उज्ज्वल बनाने में प्रयत्नशील हैं।

प्रश्न ३८—हिन्दी-उपन्यास के विकास पर एक लेख लिखिए।

उपन्यास गद्य-साहित्य का एक विकसित अंग है। दूसरों शब्दों में मानव जीवन की पूर्ण व्याख्या ही उपन्यास है। कहानी और उपन्यास में एक गहरी समानता है किन्तु कहानी जीवन के एक ही अंग को प्रकाशित करती है जबकि उपन्यास जीवन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अंगों पर भी दृष्टिपात किये बिना नहीं रहता। कहानी जब पूर्ण विकास पर पहुँचकर मानव मन के द्वन्द्व और संघर्ष का चित्रण करना आरम्भ कर देती है वहीं से उपन्यास का उदय होता है। प्राचीन समय की भाँति कहानी आज केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है अपितु पात्रों के चरित्र द्वारा तथा उनकी मानसिक स्थिति के द्वारा जीवन की जटिल उलझनों को भी सुलझाती है।

उपन्यास का जन्म और विकास आधुनिक काल की देन है। उपन्यास-सम्राट मुन्शी प्रेमचन्द के शब्दों में "यह कला हमने पाश्चात्य साहित्य से अपनाई है। गद्य के विकास के साथ-ही-साथ उपन्यास का भी विकास होता गया। हिन्दी के व्रजभाषा गद्य में अवश्य वार्ता या टीकाएँ उपलब्ध होती हैं।" आरम्भ में सैयद इंशाअल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी'

लिखी। वैसे तो यह आख्यायिका की ही कोटि में आती है किन्तु कलेवर और कथा के आधार पर उपन्यास की श्रेणी में रखी जा सकती है। किन्तु वर्तमान उपन्यास कला की कसौटी पर इनमें कलात्मक विकास का अभाव है। लाला श्रीनिवासदास लिखित 'परीक्षा गुरु' उपन्यास हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है। लेखक ने इसके कथानक को दृढ़ करने के लिए अनेक ग्रन्थों का सहयोग लिया है। नीति, धर्म और चरित्र की प्रधानता के कारण कथानक शिथिल हो गया है।

ठाकुर जगमोहन सिंह, बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त तथा गोपालराम गहमरी इस युग के मुख्य उपन्यासकार तथा लेखक हैं। भारतेन्दु जी ने अपने समय में उपन्यासों की ओर ध्यान नहीं दिया और यही कारण है कि उनके जीवन काल में कोई भी उच्चकोटि का उपन्यास हिन्दी साहित्य में नहीं लिखा गया। केवल बंगला और अंग्रेजी के उपन्यासों के अनुवादों की ओर ही लेखकों की रुचि रही। यही कारण है कि हिन्दी उपन्यासों की भाव-सामग्री पर अंग्रेजी व बंगला के उपन्यासों का प्रभाव पड़ा।

देवकीनन्दन खत्री भी उपन्यास के आदि युग के दूसरे चरण के लोकप्रिय लेखक थे। इनके उपन्यास कौतूहल प्रधान होते हैं। पाठकों में उपन्यास पढ़ने की रुचि पैदा करने में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। "चन्द्रकान्ता" तथा "चन्द्रकांता सन्तति" पढ़ने की जिज्ञासा ने उर्दू के पाठकों को भी हिन्दी सीखने के लिए बाध्य कर दिया। हिन्दी प्रचार में इनकी रचनाओं का बहुत क्रियात्मक तथा महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा। उनके उपन्यासों में तिलिस्म और ऐयारी का जाल बिछा मिलता है जिसे पढ़ते ही पाठक उन जालों में उलझ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यास का प्रत्येक अभिनेता एक जादूगर के समान है जो चाहते ही अपना कार्य सिद्ध कर लेता है। इनके कथानक में कौतूहल और मानोरंजक के अतिरिक्त जीवन का सजीव चित्रण नहीं मिल पाता है। इस युग में जासूसी उपन्यासों का ही बोलबाला था।

गोपालराम गहमरी ने आरम्भ में तो अंग्रेजी उपन्यासों का अनुवाद किया उसके बाद मौलिक उपन्यास भी लिखे। इनके उपन्यासों की कुल संख्या दो सौ

से अधिक है। इनका लक्ष्य केवल पाठक को विस्मयोन्मुख करना तथा आतंक से ही भरना था और इनमें इन्हें पूर्ण सफलता भी मिली। स्थान-स्थान पर मुहावरों का प्रयोग है तथा भाषा में भी प्रवाह दिखाई देता है। मौलिक उपन्यासकारों में श्री किशोरीलाल गोस्वामी का नाम प्रमुख है। कुछ आलोचकों के विचार में तो गोस्वामी जी ही प्रथम उपन्यासकार हैं। इन्होंने घटनाओं की प्रधानता को हटाकर उनमें कल्पनाओं तथा भावनाओं का सुन्दर समावेश किया है। सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों का भी इन्होंने सूत्रपात किया। गोस्वामी जी के पश्चात् अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' उपन्यास की रचना की।

इस युग तक उपन्यास अपने बाल्यकाल में ही रहा। उपन्यासों का ध्येय केवल मनोरंजन ही करना था। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के साथ ही साथ उपन्यासों में भी सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक चेतना में एक क्रान्ति का प्रसार हुआ। इस समय प्रेमचन्द ने चित्रण की कोटि से आगे बढ़कर देश की विविध समस्याओं पर अपनी नूतन प्रतिभा से प्रकाश डाला। देश की विभिन्न समस्याओं को चित्रित करने के साथ-साथ ही इन्होंने मन की सूक्ष्मतम भावनाओं, संघर्षों तथा अन्तर्द्वन्द्वों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया। सामाजिक, राजनीतिक तथा साम्प्रदायिक पहलुओं पर जितनी सूक्ष्मता से प्रेमचन्द ने विचार किया है उतना अन्य कोई हिन्दी लेखक नहीं कर पाया। जीवन के प्रत्येक अंग को नवीन तथा मौलिक रूप से प्रकट करना इनकी ही प्रतिभा की विशेषता थी। इनके उपन्यासों में शहर, गाँव, नौकर, मालिक, शिक्षित, अशिक्षित तथा मजदूर और किसान सबका ही बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है। इन्होंने केवल मात्र समस्याओं का चित्रण ही नहीं किया अपितु जीवन की गहराइयों में घुसकर उनका निदान भी ढूँढ़ निकाला। 'सेवा सदन', 'निर्मला', 'प्रेमाश्रम', 'वरदान', कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गोदान' तथा 'गबन' में जीवन का पूर्ण चित्र उपस्थित करने में यह पूर्ण सफल उपन्यासकार के रूप में जनता के सामने आते हैं। उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द भाषा, भाव, चित्रण में एकदम नये कहे जाते हैं।

जयशंकर प्रसाद तथा विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक का नाम भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है। कौशिक जी का झुकाव उपन्यास की ओर न होकर आख्यायिका की ही ओर था। प्रसाद जी ने उपन्यासों में अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। 'कंकाल', 'इरावती' तथा 'तितली', इनकी प्रतिभा का चमत्कृत रूप हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों के विकास में वृन्दावनलाल वर्मा का विशेष हाथ है। शुष्क तथा नीरस ऐतिहासिक विषय को लेकर उसमें नवीनता का संचार करना इनकी प्रतिभा का द्योतक है। 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'झांसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनयनी' हिंदी साहित्य के लिए गर्व की रचनाएँ हैं।

प्रेमचन्द युग के मध्यकाल में जैनेन्द्रकुमार एक नवीन प्रतिभा लेकर उदित हुए। सर्वप्रथम इन्होंने 'परख' नाम का एक छोटा-सा उपन्यास लिखा परन्तु कला की नवीनता के कारण यह प्रसिद्धि को प्राप्त हो गए। श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव भी उपन्यास क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। 'विदा' और 'विकास' इनकी सुन्दर कृतियाँ हैं। श्री चतुरसेन शास्त्री ने भी उपन्यासों के विकास को एक गति दी। 'वैशाली की नगर वधू' एक विशाल और सुन्दर उपन्यास है।

आधुनिक युग में श्री भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, यशपाल, हीरानन्द सच्चिदानन्द वात्स्यायन तथा अनूप मण्डल आदि प्रमुख उपन्यासकार हैं। भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा', 'आखिरी दांव', 'टूटती कड़ियाँ' आदि उच्चकोटि के उपन्यास हैं। वाजपेयी जी ने उपन्यासों में यथार्थ और आदर्श का चित्रण किया है। यशपाल यथार्थ का नग्न चित्र पाठक के सामने प्रस्तुत करते हैं। अज्ञेय का 'शेखर: एक जीवनी' उपन्यास हिंदी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखता है। अज्ञेय का एक नया उपन्यास 'नदी के द्वीप' है। इस पर अंग्रेजी शैली का प्रभाव है। आजकल हिंदी में आंचलिक उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। श्री रेणु इसमें अग्रणी हैं।

उपन्यासों का विकास देखने पर ज्ञात होता है कि यह अपने विकास काल से सदैव ही उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहा है। ~~उपन्यास~~
साहित्य केवल मनोरंजन की ही वस्तु नहीं है अपितु

सुलझाने के साथ मन की गहराइयों में बैठकर उसके विविध रूपों को चित्रित करता है। आधुनिक उपन्यासों का क्षेत्र भविष्य की उज्ज्वलता की ओर संकेत करता है।

प्रश्न ३६—हिन्दी कहानी के विकास पर एक लेख लिखिए।

कहानी गद्य-साहित्य का एक प्रमुख अंग है। इसको गल्प तथा आख्यायिका कई समानार्थक शब्दों में पुकारा जाता है। गद्य के विकास के लगभग पचास वर्ष बाद हम कहानी का जन्म मानते हैं। मौलिक कहानी के तत्वों को यदि कसौटी पर कस कर देखा जाये तो कहानी का सूत्रपात ईसा की बीसवीं शताब्दी में पाया जाता है। गद्य के विकास में कथा कहने की प्रवृत्ति हमें प्रारम्भिक लेखकों में भी दृष्टिगोचर होती है। सैयद इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी', राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद का 'राजा भोज का सपना' तथा भारतेन्दु जी की 'कुछ आप बीती तथा कुछ जग बीती' इस कोटि में आती हैं।

इन कहानियों में कथा के अतिरिक्त मौलिकता का कहीं भी समावेश नहीं है। मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, पात्रों का सुन्दर संवाद तथा कथोपकथन में नवीनता और मौलिकता का बिल्कुल ही अभाव है। उपन्यासों के समान ही कहानी का भी ईसा की बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बंगला और अंग्रेजी कहानियों का हिंदी में अनुवाद किया गया। इससे कथा साहित्य के विकास को अधिक रूप में प्रोत्साहन मिला।

जैसा कि अभी कहा गया है कि हिंदी कहानी का विकास बंगला और अंग्रेजी की कहानियों के अनुवाद से हुआ। सरस्वती पत्रिका में अनुवादित कहानियाँ प्रकाशित होती थीं तथा कुछ कहानियाँ भाव आदि को लेकर रची गईं। लेखकों में छोटी-छोटी कहानियों का साहस उत्पन्न हुआ और प्रतिभाशाली लेखकों को कहानी लिखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसी समय श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने नवीन कहानी के नवीन क्षेत्र में पदार्पण किया। बंगला के भावों का इनकी कहानी में आभास पाया जाता है। 'इन्दुमती' की रचना भी किसी बंगला कहानी से प्रेरणा लेकर की गई। कला की कसौटी पर तो यह कहानी उत्तम कोटि की मानी नहीं जाती किन्तु हिंदी के विकास में अवश्य ही महत्त्व-

पूर्ण है। रामचन्द्र शुक्ल ने भी अंग्रेजी की एक कहानी का छायानुवाद किया।

प्रथम उत्थान में कहानी का अंकुर तो फूट चुका था परन्तु लेखकों में कहानी की ओर रुचि न होने के कारण यह अधिक उन्नति न कर पाई। परन्तु द्वितीय उत्थान में सर्वप्रथम जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' कहानी 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुई तथा चंडीप्रसाद, विश्वम्भरनाथ, राजा राधिकारमण सिंह ने भी अपनी मौलिक रचनायें प्रस्तुत कीं। इन लेखकों में आदर्शवाद की प्रवृत्ति पाई जाती है। कल्पना की उड़ान, भाषा का माधुर्य तथा लौकिक भावनाओं की छाप इन पर दीखती है। हृदयेश तो अपनी कहानियों में भावुकता में इतना बह जाते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि कोई कवि अपनी कविता द्वारा कथा तथा पात्रों का चित्रण कर रहा है। श्री प्रसाद जी ने कुछ कहानियाँ लिखने के पश्चात् इस शैली के लोभ को त्याग दिया। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को लेकर हृदय की गहराइयों को स्पर्श करने वाली कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ कर दीं। इस समय के लेखकों ने सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक दृष्टिकोण को अपनाकर कहानियाँ लिखनी प्रारम्भ कीं। मुंशी प्रेमचंद, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पं० ज्वालादत्त शर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा, सुदर्शन आदि इस समय के प्रतिनिधि लेखक हैं। चतुरसेन शास्त्री, गोपालराम गहमरी, गोविन्दवल्लभ पंत ने भी हिन्दी कहानी को पूर्ण सहयोग दिया।

इस समय के प्रत्येक लेखक की अपनी-अपनी विशेषता थी। प्रेमचंद ने तो इस क्षेत्र में युगान्तर ही कर दिया। अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से प्रेमचंद जी ने जीवन के प्रत्येक भाग में झाँका तथा उन सबको अपनी विलक्षण प्रतिभा द्वारा चित्रित किया। मनोविज्ञान का सुन्दर समावेश इनकी कहानी का प्राण है। एक छोटे से पात्र को लेकर ही उसके चरित्र के द्वारा उसको महान बना देना ही प्रेमचंद की विशेषता है।

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने यद्यपि तीन ही कहानियाँ लिखीं तथापि उनमें चरित्र तथा अनुभूति का इतना सुन्दर समावेश है कि वह कथा साहित्य के लिए एक गर्व का विषय बन गया है। 'उसने कहा था' कहानी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में गिनी जाती है। विश्वम्भरनाथ शर्मा तथा

कथा साहित्य की पर्याप्त सेवा की । कौशिक जी पारिवारिक समस्याओं को लेकर ही रचना किया करते थे । सुदर्शन जी की शैली व्यंग्यमयी तथा भाषा चुस्त है ।

इस उत्थान के कुछ समय तक जासूसी और तिलस्मी कहानियाँ लिखी गयीं । रोचकता, कौतूहल, विस्मय तथा असम्भव बातें ही कहानियों का विषय होती थीं । गोपालराम गहमरी तथा खत्री जी इस कोटि के प्रमुख लेखक हैं । पाण्डेय बेचन शर्मा और आचार्य चतुरसेन ने समाज के वीभत्स, लज्जास्पद तथा रोमांचकारी चित्रों को प्रस्तुत किया ।

प्रेमचंद के कथा-क्षेत्र से बाहर कदम रखते ही हिन्दी कहानी का तृतीय उत्थान आरम्भ होता है । कुछ लेखकों ने प्रेमचंद से प्रभावित होकर अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा कहानियाँ लिखनी आरम्भ कीं । श्री विनोदशंकर व्यास, मोहनलाल महतो, गोविन्दवल्लभ पंत, वियोगी, सियारामशरण गुप्त और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार इस समय के प्रमुख लेखक हैं । तृतीय उत्थान में शैली, भाव तथा भाषा में युगान्तर पैदा करने वालों में जैनेन्द्र का नाम सर्वप्रथम आता है । भाषा आदि में वह बिल्कुल ही मौलिक हैं । सूक्ष्म दर्शन की प्रवृत्ति के कारण वह साधारण पाठकों के लिए दुर्बोध बन गये हैं । जैनेन्द्र जी के बाद हिन्दी लेखकों की बाढ़ सी आ गई है । भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, अज्ञेय, महादेवी वर्मा तथा सुभद्राकुमारी चौहान आदि इस युग के प्रमुख लेखक हैं ।

इनके अतिरिक्त राजेश्वरप्रसाद सिंह, राधाकृष्ण, भैरवप्रसाद गुप्त, रामचंद्र तिवारी आदि ने भी अच्छी संख्या में कहानियाँ लिखीं । आज भी कितने ही लेखक उत्तम शैली में कहानियाँ लिख रहे हैं । आज के उदीयमान लेखकों में श्री विष्णु प्रभाकर, भैरवप्रसाद गुप्त तथा श्रीराम शर्मा का नाम उल्लेखनीय है ।

आज हिन्दी साहित्य में कहानियों का बाहुल्य है । आधुनिक युग की कहानी केवल मनोरंजन की ही वस्तु नहीं है अपितु मानव समाज की गहनतम समस्याओं को भी चित्रित करती है । सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक सभी प्रकार की समस्याएँ तथा मनस्तत्त्व आज की कहानी के विषय हैं । विस्तार की दृष्टि

से आज की कहानियाँ लम्बी नहीं लिखी जाती। केवल ऐसी ही कहानियाँ पसन्द की जाती हैं जो पन्द्रह या बीस मिनट में समाप्त हो सकें। आज की युग-चेतना की छाप भी कहानियों में पाई जाती है जिसके फलस्वरूप प्रगतिवाद पाया जाता है। मार्क्स और फ्रायड की विचारधारा हिन्दी कहानियों में स्थान पा रही है। स्थूल सौन्दर्य से ही लेखक प्रभावित नहीं होता है अपितु ईश्वर और समाज, रोटी और सदन तथा वर्गभेद कहानी के प्रमुख अंग बने हुए हैं। इस प्रकार कहानी विस्तृत क्षेत्र में बहती हुई अपने उज्ज्वल भविष्य की ओर जा रही है।

प्रश्न ४०—हिन्दी-आलोचना के विकास पर एक लेख लिखिए।

हम हिन्दी तथा उसके पूर्ववर्ती साहित्यों में आलोचना साहित्य की निश्चित परम्परा नहीं पाते। कवि अपने विचार और भावपूर्ण भावनाओं को प्रकाश में लाता रहा और आलोचक इन रचनाओं पर अपनी प्रतिक्रियाओं को पाठकों के सम्मुख रखता रहा चाहे वह आलोचना शास्त्रीय आधार पर रही हो या नहीं। प्राचीनकाल में आलोचना का उद्देश्य गुण-दोष वर्णन करना ही समझा जाता था। संस्कृत-साहित्य में आलोचना का रूप यह था कि जब कोई आचार्य नया निदान ग्रन्थ लिखता था तब वह जिन रचनाओं को उत्कृष्ट समझता था उनको रस, अलंकार आदि के उदाहरणों के रूप में देता था। जिन रचनाओं को निकृष्ट समझता था उनको दोष के उदाहरण के रूप में देता था। दूसरा रूप यह था कि कवियों की विशेषताओं का अलग-अलग वर्णन करके किसी भी कवि की स्तुति में दो-चार श्लोक कह दिए जाते थे। 'सूर-सूर तुलसी ससी' में आलोचक की आलोचनात्मक भावना मात्र पाई जाती है। इसमें हम वैज्ञानिकता का अभाव पाते हैं।

हिन्दी-साहित्य में आलोचना पहले गुण-दोष वर्णन के ही रूप में प्रकट हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लेखों के रूप में इसका सूत्रपात किया [illegible] तेन्दु जी ने प्राचीन नाटक-शास्त्र तथा सम-सामयिक रंगमंच की विवेच [illegible] नामक पुस्तक में की है। अब नवीन भेद के अन्तर्गत परि [illegible] पाये जाते हैं। पं० बद्री नारायण चौधरी ने 'आनन्द कादम्बि [illegible]

की विस्तृत समालोचना की है। २०वीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी के प्राचीन कवियों और लेखकों के विषय में कोई पूर्ण व्यवस्थित आलोचना-पुस्तक प्रकाशित नहीं हो पाई, कुछ इतिवृत्त अवश्य लिखे गए।

द्वितीय उत्थान में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आलोचना के उत्थान में बहुत ही योग दिया तथा लेखकों के दोषों का विस्तृत रूप से विवेचन किया। इन्होंने 'हिन्दी में कालिदास' की आलोचना की तथा लाला सीताराम के अनुवाद किए हुए नाटकों के दोषों को बड़े विस्तार के साथ दिखाया। इस युग में लेखकों के जीवन-चरित की ओर ध्यान दिया गया। इस प्रकार की आलोचना में देवीप्रसाद मुंसिफ कृत 'सूरदास का जीवन-चरित', कार्तिकप्रसाद खत्री का 'मीराबाई का जीवन-चरित' तथा राधाकृष्ण द्वारा लिखित 'कविवर बिहारी-लाल' आदि प्रमुख रचनाएँ हैं। 'रामायण के अध्यात्म विचार' श्री जमुना-शंकर नागर लिखित प्रमुख रचना है।

इसके पश्चात् मिश्रबन्धुओं ने कवियों पर एक विशाल संग्रह 'मिश्रबन्धु विनोद' के नाम से निकाला तथा 'हिन्दी नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित किया। 'सरस्वती' तथा 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में भी आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते रहते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा ने भी बिहारी पर समालोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किया। शर्मा जी ने आर्या सप्तशती और गाथा सप्तशती के पद्यों की बिहारी के दोहों के साथ तुलनात्मक विवेचना करके अपने पांडित्य का प्रदर्शन किया है। इसके पश्चात् तो बहुत से लेखकों ने तुलनात्मक आलोचनाएँ प्रारम्भ कर दीं। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'मति-राम ग्रंथावली' तथा 'देव और बिहारी' और लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' की आलोचनात्मक रचनाएँ कीं। यद्यपि इस युग में आलोचनात्मक रचनाएँ बहुत सी की गईं तथापि इनका रूप रूढ़िगत ही रहा।

तृतीय उत्थान में आकर उच्चकोटि की रचनाएँ आरम्भ हो गई थीं। गुण-दोष के साथ-साथ कवियों की अन्तःप्रवृत्तियों की छान-बीन की गई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी, सूर तथा जायसी पर विस्तृत आलोचनाएँ कीं, कवियों के काव्य के साथ-साथ उनका जीवन-चरित, समय, वातावरण तथा उसके

प्रभाव आदि का भी अध्ययन किया गया। शुक्ल जी नवीन पद्धति के साथ-साथ प्राचीन पद्धति के भी पूर्ण ज्ञाता थे अतः दोनों पद्धतियों का इन्होंने बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है। डा० श्यामसुन्दरदास की आलोचना में भी हम इन दोनों पद्धतियों का सुन्दर सामंजस्य पाते हैं। इनकी आलोचना पक्षपात-रहित होती है। 'साहित्यालोचन' इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने कबीर की समीक्षा 'कबीर वचनावली' में की है। इसके पश्चात् कृष्णशंकर शुक्ल ने 'केशव की काव्य-कला' तथा 'कविवर रत्नाकर' नामक आलोचनात्मक पुस्तकें लिखीं। डा० सत्येन्द्र, श्री रामनाथ सुमन आदि ने काव्य साधना की अनेक प्रकाशित पुस्तकें लिखीं। पं० गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश ने गुप्त की रचनाओं की विविधता का बड़ी सूक्ष्मता तथा मार्मिकता से उद्घाटन किया। पं० शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'हमारे साहित्य निर्माता' तथा 'संचारिणी' आदि पुस्तकें लिखकर लेखकों की प्रवृत्तियों तथा विशेषताओं का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया।

डा० रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'तुलसी दर्शन' आदि में साहित्यकार के जीवन तथा उसकी रचना के विशेष पक्ष को लेकर आलोचना की है। इसी श्रेणी में हजारीप्रसाद द्विवेदी की कबीर और सूरदास के विषय में लिखी हुई पुस्तकें तथा डा० नगेन्द्र द्वारा रचित 'देव' कृतियाँ भी प्रमुख हैं। परन्तु प्राचीन कृतियों पर इतना वैज्ञानिक तथा सूक्ष्म निरूपण न हो पाया। आलोचना की विभिन्न प्रवृत्तियों में संयत, डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि प्रमुख आलोचक हैं। अभी हमारे यहाँ आलोचना का विस्तृत क्षेत्र नहीं है। सैद्धान्तिक आलोचना मासिक पत्रों तथा पाठ्य पुस्तकों तक ही सीमित है। दो-चार आलोचकों के अतिरिक्त किसी भी आलोचक ने 'कविता' जैसे महत्त्वपूर्ण अंग पर कोई गवेषणात्मक तथा मौलिक लेखनी नहीं चलाई। परन्तु फिर भी कुछ आलोचक इस ओर अपनी दृष्टि फेर रहे हैं। बाबू गुलाबराय का 'सिद्धान्त अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' प्रमुख ग्रंथ हैं।

पिछले बीस वर्षों से हिंदी के कितने ही इतिहास हमारे सामने आ रहे हैं। रामचन्द्र शुक्ल का 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', श्यामसुन्दरदास का 'भाषा और साहित्य', डा० रामकुमार वर्मा का 'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', डा० नगेन्द्र की 'रीतिकाल की भूमिका' तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिंदी साहित्य की भूमिका' आदि प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। हिंदी साहित्य की विभिन्न धाराओं, प्रवृत्तियों और युगों पर लिखने का प्रयत्न होता रहा है। ग्रंथ-शैली का विकास, हिन्दी भाषा तथा इसकी बोलियाँ आदि विषयों पर भी गवेषणा की गई परन्तु लेखक की शैली, विस्तार, वैज्ञानिकता या मौलिकता आदि पर अधिक नहीं लिखा जा सका।

आज जबकि कहानी, उपन्यास तथा नाटक आदि के क्षेत्रों में प्रगति हो रही है तब समालोचना के क्षेत्र में भी प्रगति होना आवश्यक है।

प्रश्न ४१—हिन्दी निबन्ध के विकास पर एक लेख लिखिये।

गद्य के अन्य अंगों की अपेक्षा निबन्ध साहित्य अधिक नवीन है। निबंध गद्य-साहित्य का परिपक्व रूप है। निबन्धों का आधुनिक रूप पश्चिम की देन है। पाश्चात्य प्रभाव के कारण लेखकों में धारावाहिक शैली, परिष्कृत भाषा तथा व्यक्तिगत विशेषता से निबन्धों में साहित्यिकता आई। निबन्धों का प्रचार हम दैनिक पत्रों, साप्ताहिक पत्रों तथा मासिक पत्रिकाओं में पाते हैं।

निबन्धों का सूत्रपात भारतेन्दु काल में ही हुआ। बालकृष्ण भट्ट प्रथम हिंदी निबन्ध लेखक थे। इस उत्थान में प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त' राधामोहन, अम्बिकादत्त व्यास आदि आते हैं। इन लेखकों के विषय सीमित थे। सामाजिक अथवा होली, विजयादशमी तथा रामलीला आदि थे। बालकृष्ण भट्ट ने 'कवि और चितेरे की डाँडामेड़ी', 'चन्द्रोदय' तथा 'आँसू' आदि निबन्ध लिखे। प्रतापनारायण मिश्र ने सामान्य विषय लेकर 'बुढ़ापा', 'भौं' ...ी' आदि विषयों पर निबन्ध लिखे। निबन्धों में तत्कालीन राजनीतिक तथा

सामाजिक परिस्थितियों का भान पाया जाता है। कहीं-कहीं इन निबंधों में वैयक्तिकता तथा स्वच्छन्दता का दोष भी पाया जाता है।

द्वितीय उत्थान में 'बेकन विचार रत्नावली' तथा 'निबन्ध-माला' प्रकाशित हुए। इस युग में भाषा का परिमार्जन प्रारम्भ हो गया था। द्विवेदी जी शुद्ध भाषा तथा व्याकरण की ओर अधिक ध्यान दे रहे थे। द्विवेदी जी के समय में ज्ञान की जिज्ञासा से सामाजिक तथा राजनीतिक निबन्धों के अतिरिक्त ऐतिहासिक, आलोचनात्मक तथा पुरातत्त्व सम्बन्धी निबन्धों की रचना की गई। द्विवेदी जी के अथक प्रयत्न के द्वारा नवीन लेखकों में भी नवचेतना आरम्भ होने लगी थी। पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि प्रमुख हैं। द्विवेदी जी ने १६०२ में सरस्वती पत्रिका का सम्पादन किया तथा अपना सारा जीवन लिखने में लगा दिया था। कठिन से कठिन विषयों को भी वे इतने साधारण ढंग से लिखते थे कि साधारण से साधारण पाठक भी उसे समझ जाए। नवीन विचारों वाले निबंध बहुत ही कम पाए जाते हैं, जैसे 'कवि और कविता' तथा 'प्रतिभा' आदि। इनमें विचारों की प्रौढ़ता का अभाव है। पं० माधवप्रसाद मिश्र ने अपने 'सुदर्शन' नामक पत्र में बहुत से लेख, समीक्षाएँ तथा निबन्ध लिखे। 'धृति' और 'क्षमा' मिश्र जी के स्थायी विषयों पर लिखे निबंध मिलते हैं। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों को लेकर कई मनोरंजक निबन्ध लिखे। 'शिवशंभु का चिट्ठा' इनका बहुत ही प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह है। बाबू गुलाबराय ने भावात्मक एवं विचारात्मक दोनों ही प्रकार के निबन्धों की रचना की। गुलाबराय जी ने साधारण में हास्य को लेकर गम्भीर विषयों पर भी निबन्ध लिखे। वियोगी हरि तथा माखनलाल चतुर्वेदी ने अनुभूति-पूर्ण विषयों पर रचना की। वियोगी जी की भा[illegible]नुभूति [illegible] मयी है।

निबन्ध क्षेत्र में रामचन्द्र शुक्ल एक नवीन [illegible] मनोवैज्ञानिक निबन्धों की तुलना बेकन (Ba

है। जगह-जगह पर हास्य-व्यंग का सुन्दर समावेश पाया जाता है। इनके मनोवैज्ञानिक निवन्ध भारतीय रस-सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं। शुक्लजी के गम्भीर निबंध 'चिंतामणि' में संगृहीत हैं। भावों के विश्लेषण से पूर्ण होते हुए भी इनके निबंध भावात्मक न होकर विचारात्मक हैं। इनके निबंधों में विषय की प्रधानता है अथवा व्यक्ति की यह पाठक के समझने की वस्तु है।

आधुनिक हिन्दी को सुदृढ़ रूप देने में डा० श्यामसुन्दरदास ने बहुत कुछ योग दिया है। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का नाम भी हास्यविनोदपूर्ण लेख लिखने में उल्लेखनीय है। विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन होने के कारण निबंधों का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है। नये युग के लेखकों ने निबंधों को कला के रूप अपना लिया है। एक ओर हिन्दी के उच्चकोटि के निबंधकार डा० धीरेन्द्र वर्मा निबंधों में वैज्ञानिकता का प्रचार कर रहे हैं तो दूसरी ओर रसात्मक, कलात्मक तथा भावना प्रधान निबन्धों की रचना हो रही है। माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगीहरि एवं उग्र जी आदि भावना प्रधान निबंधकारों की कोटि में आते हैं। चतुर्वेदी जी के निबंधों में काव्यात्मकता के साथ-साथ हास्य का भी पुट पाया जाता है। लेखन कला की कुशलता के कारण साधारण से साधारण विषय को भी मूर्त्त रूप में प्रकट करना आपकी ही विशेषता है। उग्र जी की शैली काव्यात्मक के साथ-साथ प्रेरणात्मक है। वियोगी जी के निबंध अधिकांश में आध्यात्मिकता को लिए हुए होते हैं। इनकी भाषा कोमल तथा सानुप्रास है। डा० नगेन्द्र, सियारामशरण गुप्त, अज्ञेय, महादेवी वर्मा, डा० रघुवीरसिंह, हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा रायकृष्णदास ने आलोचना को कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया। 'वाणी के न्याय मन्दिर में', 'यौवन के द्वार पर', 'हिन्दी उपन्यास' आदि निबंधों एवं रेखाचित्रों में डा० नगेन्द्र उत्कृष्ट कलाकारों के समान हमारे सम्मुख आते हैं। रायकृष्णदास के निबंध, निबन्ध न रहकर गद्य-गीत बन गए हैं। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध उच्चकोटि के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक हैं। इनमें पांडित्यपूर्ण वाक्यों की तथा तत्सम शब्दों की प्रधानता है। 'अशोक के फूल' में यह कलात्मक हो गए हैं। महादेवी वर्मा ने 'अतीत

जहाँ पन्त जी की जीवन के प्रति सहज अनुरक्ति है वहाँ महादेवी जी आरम्भ से वैराग्य वृत्ति और अध्यात्ममूलक विचारों से युक्त हैं। वे स्वयं लिखती हैं कि "बचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उसकी संसार को दुःखात्मक समझने वाली फिलासफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।"

पन्त और महादेवी दोनों प्रकृति के कवि हैं। पन्त जी का आरम्भिक जीवन अधिकतर प्रकृति की सुखमयी क्रोड़ में ही बीता। अलमोड़ा, नैनीताल, मंसूरी, शिमला आदि अनेक स्थानों में प्रायः पन्त जी घंटों बैठे प्रकृति को निहारा करते। प्रारम्भ में पन्त जी का दृष्टिकोण शुद्ध और पावन रूप से प्रकृति के प्रति था—

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को॥"

इससे स्पष्ट होता है कि पन्त जी ने रीतिकालीन प्रकृति-चित्रण के तामसि[illegible] आवरण को दूर कर पावन और स्वच्छ प्राकृतिक आत्मा के दर्शन कराये।

पन्त जी का आरम्भिक प्रकृति-चित्रण शुद्ध है, उसमें किसी प्रकार का [illegible]ारोप नहीं। उनकी उज्ज्वल दृष्टि और आह्लादमयी आत्मा ने प्रकृति नटी से [illegible]ामंजस्य स्थापित कर लिया है अतः वे प्रकृति का साहचर्य सदैव चाहते हैं। अतः [illegible]हा जा सकता है कि पन्त ने व्यक्त प्राकृतिक आत्मा का उज्ज्वल मुख दिखा[illegible]या है।

प्रकृति के अगणित अनुपम चित्र महादेवी जी की कविता में हैं। उनमें [illegible]ीक्षण की मात्रा कम हो सकती है, चिन्तन की नहीं। महादेवी जी के ये चित्र [illegible]ना प्रधान हैं। इनके प्रकृति-चित्र झिलमिलाते हुए पट पर तारकदीपों के [illegible]न हैं—

"करुणामय को भाता है तम के पर्दे में आना।
हे नभ की तारावलियो तुम पल भर को बुझ जाना ॥"

अथवा

"कनक से दिन मोती सी रात सुनहरी साँझ गुलाबी प्रात।
मिटाता रंगता बारम्बार, कौन जग का यह चित्राधार ॥"

महादेवी जी के प्रकृति-चित्रण में रहस्यात्मकता है। यह उस आत्मा में परमात्मा का आभास पाती हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पन्त जी के चित्र जहाँ मुखर हैं, महादेवी जी के अव्यक्त और अस्पष्ट। कहीं-कहीं प्रकृति का मानवीकरण भी किया है और कहीं उसका आलंकारिक अर्थ में भी प्रयोग किया है। कहीं उनके भावों का चित्रण है और कहीं चित्र स्वतंत्र हैं। कई स्थानों पर प्रकृति महादेवी जी के लिए शृंगार की वस्तु है। इस प्रकार प्रकृति ने उनके केवल भावपक्ष का ही नहीं, कलापक्ष का भी शृंगार किया है। ऐसे प्रतीकों द्वारा प्रकृति की अभिव्यंजना कई कवियों ने की है पर उसे अपने जीवन-दर्शन का माध्यम बनाना महादेवी जी की विशेषता है।

शृंगारिक भावना दोनों के काव्य में नहीं। कहीं भी पन्त जी ने बाह्य या शारीरिक सौन्दर्य को महत्त्व नहीं दिया। बाह्य शृंगार उनके चित्रों की परिधि मात्र है। महादेवी जी का शृंगार-दर्शन अधिकतर कबीर और मीरा की कोटि में रखा जा सकता है। कबीर और मीरा दोनों ने शृंगारिक रूपक बाँधकर अव्यक्त शृंगार की पुष्टि की है। महादेवी जी ने अपने प्रेम की अभिव्यक्ति दुःख से दग्ध वेदना से की है। उनके यौवन का माधुर्य भी वेदना से सिक्त है जिस पर ओस की बूँदों के समान आँसू का अजस्र प्रवाह सदैव विद्यमान रहता है। महादेवी की यह वेदना सजग है, वे स्वयं लिखती हैं—"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँधने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें परन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं रह सकता।"

महादेवी जी एक स्थान पर लिखती हैं—सुख और दुःख के धूप-छाँही डोरों से बने हुए इस जीवन में मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों प्रिय है यह बहुत लोगों के लिए आश्चर्य का कारण है।" महादेवी के काव्य में दुःखवाद की प्रधानता है। उनका अधिकांश काव्य विरह-वेदना से समन्वित है। उनके काव्य में प्रवाहित पीड़ा धारा में आन्तरिक वृत्ति के देर तक निमग्न होते ही एक प्रकार का अनुभव पाठक को होने लगता है—

"पुलक-पुलक उर सिहर-सिहर तन।
आज नयन आते क्यों भर-भर॥"

वियोग शृंगार के अतिरिक्त महादेवी के काव्य में कुछ नहीं। संयोग शृंगार के चित्र बहुत विरल हैं। 'रश्मि' रचना में महादेवी स्वयं को प्रियतम में घिरा पाती हैं।

इसके ठीक विपरीत पन्त जी के काव्य में अह्लाद है, सौन्दर्य प्रेम है, पन्त जी सुन्दरता के कवि हैं। इनका सौन्दर्य अबोध है, जिसमें कौतूहल वृत्ति और शिशुपन की अपूर्व अनुभूति है। "पल्लव' में कवि कहते हैं—विश्वकामिनी की पावन छवि मुझे दिखाओ करुणावान।" कवि की अन्तर्दृष्टि सौन्दर्य के मूल में समस्त संसार में इसी को दृष्टिगत करना चाहती है—"अकेली सुन्दरता कल्याणी सकल ऐश्वर्यों की सन्धान।" पन्त जी का समस्त साहित्य सौन्दर्य कीखोज की सच्ची साधना है। यदि महादेवी सर्वत्र विरह में तल्लीन हैं तो पन्त जी सर्वत्र सौन्दर्यदर्शी हैं। इसी सच्ची अनुभूति में पन्त जी को विश्व का कण-कण अलौकिक आभा में प्रफुल्लित और द्युतिमान दिखाई देता है—

"न जाने कौन अये द्युतमान,
जान मुझको अबोध अज्ञान।
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रों में गान॥"

पन्त ज की 'वीणा' में कई ऐसी कविताएँ हैं जिनमें यौवनतत्त्व न होने के

कारण तथा प्रेम का प्रारम्भिक पवित्र उद्रेक होने के कारण समवयस्क और सजातीय प्रेम ही सम्भव हो सकता है। पंत जी का प्रेम-वर्णन विश्व की सीमा में रहकर भी अलौकिक बन गया।

पंत और महादेवी दोनों की विचारधाराओं में चिंतन और गाम्भीर्य है। महादेवी जी के 'नीहार' में ही आध्यात्मिक दर्शन हो गए हैं। सूफियों के प्रणय को लेकर कबीर की अतीन्द्रियता तथा बुद्ध की करुणा को लेकर महादेवी ने अपने को उस असीम की ओर उन्मुख कर लिया है। बुद्ध की करुणा ने उनको संसार के साथ तादात्म्य और आत्मीयता स्थापित करने की सामर्थ्य दी है। कबीर की अतीन्द्रियता ने महादेवी को असीम के प्रति जागरूक कर दिया तथा उनमें संयमशीलता का उद्रेक किया है।

पंत जी महादेवी की भाँति आरम्भ में इतने चिंतनशील प्रकृति के नहीं थे। उनका प्रारम्भिक जीवन आध्यात्मिकता में नहीं बीता बल्कि भौतिक सरलता उनमें थी। पन्त प्रकृति को, हिमाच्छादित घाटियों को देख कई प्रकार के रंग-बिरंगे चित्र अपने मन में बनाते हैं। वे उसके आकर्षक स्वरूप में घुल-मिल जाते हैं। पंत जी में प्रकृति के कोमलतम तथा अत्यधिक आकर्षक स्पन्दनों की यथार्थ अनुभूति है। महादेवी और पन्त की विचारधारा का अन्तर स्पष्ट करने के लिए स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ को अपने सामने रखना पड़ेगा। स्वामी विवेकानन्द के लिए आध्यात्मिकता एक उच्च माध्यम है और यह आध्यात्मिकता लोक-संग्रह के लिए है। रामतीर्थ के लिए लोक-संग्रह आध्यात्मिक जीवन के लिए सीमित माध्यम है। पन्त जिस लक्ष्य तक सुख और आनन्द के माध्यम से पहुँचना चाहते हैं महादेवी उसी तक दुःख के माध्यम से पहुँचती हैं। अतः कहना न होगा कि महादेवी का विषाद सदैव तीव्र, उत्फुल्ल, आह्लादमय है। महादेवी जी का प्रेम कई स्थानों पर पार्थिव भी है, जैसे—"जो तुम आ जाते एक बार" अथवा "तुम्हें बाँध पाती सपने में" आदि। परन्तु "बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ" जैसी कविताओं में अपार्थिव आलम्बन ही मानना पड़ेगा।

अतः कई स्थानों पर इनकी आध्यात्मिक प्रतिभा विशेषतया तीव्र हो उठी है, पन्त जी में ऐसी आध्यात्मिक दार्शनिकता नहीं। हाँ, भौतिक दार्शनिकता उसे कहा जा सकता है। पन्त जी अपनी कविताओं में दार्शनिकता की ओर जाने का प्रयत्न करते हैं पर असन्तोष के कारण फिर वहाँ से लौट आते हैं पर यह तो केवल दर्शन का संकेत ही माना जा सकता है। इनकी कविता नवीन संस्कृति की द्योतक है। पन्त और महादेवी दोनों ही को छायावादी कवि कहा जा सकता है। महादेवी को कुछ लोगों ने रहस्यवाद में लाने का बहुत यत्न किया है और यह मानने में किंचित् भी संकोच नहीं कि महादेवी रहस्यवादिनी भी हैं। पन्त जी ने 'युगवाणी' दी जो, समाज के लिए बाइबिल है और महादेवी ने 'यामा' दी जो गीता है। पन्त जी वस्तु जगत की ओर उन्मुख हैं तो महादेवी आरम्भ से अन्त तक भाव-जगत की ओर।

मध्यकाल काल की काव्य-चेतनाओं को इन दोनों ने वाणी प्रदान की। प्रकृति के मनोहर व्यक्तित्व को पन्त ने सामने रखा और प्रकृति के पुरुष पुरातन का दिव्य स्वरूप महादेवी ने बताया। पंत की प्रकृति एक बालिका के समान क्रीड़ा करती है और महादेवी की प्रकृति एक विरहिणी के समान आँसू ही बहती है। अतः दोनों की काव्याभिव्यक्ति का लक्ष्य भिन्न है और भिन्न दशा है। परन्तु दोनों . काव्य इतना ललित, स्निग्ध और मसृण है कि संगीत और कला दोनों का गठबन्धन स्वर्ण-जटित मणि सदृश है। पंत जी पर रवीन्द्र बाबू की सुदूर व्यापिनी छाया का प्रतिबिम्ब है। इनकी कविता में एक नई स्निग्धता, नया भाव-विलास और एक नई ही कोमलता के दर्शन होते हैं। कवि की कविता का सर्वाधिक प्रौढ़ प्रकाश 'पल्लव' है। 'गुञ्जन' में सुख-दुख, जीवन-मरण तथा प्रकृति के हास-विलास और मन के अतल-स्रोत को काव्य का विषय बनाया। कवि दुःख-सुख की मीमांसा करते हैं—

"जग पीड़ित है अति दुःख से, जग पीड़ित है अति सुख से।
मानव जग में बँट जावें, दुःख सुख से औ' सुख दुःख से॥"

अतः कई स्थानों पर इनकी आध्यात्मिक प्रतिभा विशेषतया तीव्र हो उठी है, पन्त जी में ऐसी आध्यात्मिक दार्शनिकता नहीं। हाँ, भौतिक दार्शनिकता उसे कहा जा सकता है। पन्त जी अपनी कविताओं में दार्शनिकता की ओर जाने का प्रयत्न करते हैं पर असन्तोष के कारण फिर वहाँ से लौट आते हैं पर यह तो केवल दर्शन का संकेत ही माना जा सकता है। इनकी कविता नवीन संस्कृति की द्योतक है। पन्त और महादेवी दोनों ही को छायावादी कवि कहा जा सकता है। महादेवी को कुछ लोगों ने रहस्यवाद में लाने का बहुत यत्न किया है और यह मानने में किंचित् भी संकोच नहीं कि महादेवी रहस्यवादिनी भी हैं। पन्त जी ने 'युगवाणी' दी जो, समाज के लिए बाइबिल है और महादेवी ने 'यामा' दी जो गीता है। पन्त जी वस्तु जगत की ओर उन्मुख हैं तो महादेवी आरम्भ से अन्त तक भाव-जगत की ओर।

मध्यकाल काल की काव्य-चेतनाओं को इन दोनों ने वाणी प्रदान की। प्रकृति के मनोहर व्यक्तित्व को पन्त ने सामने रखा और प्रकृति के पुरुष पुरातन का दिव्य स्वरूप महादेवी ने बताया। पंत की प्रकृति एक बालिका के समान क्रीड़ा करती है और महादेवी की प्रकृति एक विरहिणी के समान आँसू ही बहती है। अतः दोनों की काव्याभिव्यक्ति का लक्ष्य भिन्न है और भिन्न दशा है। परन्तु दोनों का काव्य इतना ललित, स्निग्ध और मसृण है कि संगीत और कला दोनों का गठबन्धन स्वर्ण-जटित मणि सदृश है। पंत जी पर रवीन्द्र बाबू की सुदूर व्यापिनी छाया का प्रतिबिम्ब है। इनकी कविता में एक नई स्निग्धता, नया भाव-विलास और एक नई ही कोमलता के दर्शन होते हैं। कवि की कविता का सर्वाधिक प्रौढ़ प्रकाश 'पल्लव' है। 'गुञ्जन' में सुख-दुख, जीवन-मरण तथा प्रकृति के हास-विलास और मन के अतल-स्रोत को काव्य का विषय बनाया। कवि दुःख-सुख की मीमांसा करते हैं—

"जग पीड़ित है अति दुःख से, जग पीड़ित है अति सुख से।
मानव जग में बँट जावें, दुःख सुख से औ' सुख दुःख से॥"

ंत में बालक की-सी कौतूहल वृत्ति अधिक है और महादेवी में माधुर्य-भाव अधिक है। पंत के मुक्तक बंद और भावों से प्रसरित होते हैं, महादेवी के भाव उनके मुक्तक का संकुचीकरण करते हैं। महादेवी का काव्य एक पुष्पांजली है और पंत का काव्य चौड़ा विस्तृत उद्यान है। संगीत का माधुर्य ताल और स्वर के दृष्टिकोण से दोनों में है। काव्य में संगीत के कारण स्निग्धता है अतः निराला बड़ा सधा हुआ है। पंत जी यद्यपि अब संगीत का मोह छोड़ रहे हैं, फिर भी महादेवी अभी तक उनके साथ ही हैं। आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी को मिली है वैसी अन्य किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह कहीं मिलता है और न ही हृदय की ऐसी भाव-भंगिमा।"

पंत साकार की ओर उन्मुख हैं और महादेवी निराकार की ओर। पन्त कहते हैं—

"राशि राशि सौंदर्य प्रेम,
आनन्द गुणों का भार।
मुझे लुभाता रूप रंग,
रेखा का यह संसार॥"

महादेवी कहती हैं—

"विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द।
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द।
यहाँ किसका अनन्त यौवन, अरे अस्थिर छोटे जीवन॥"

महादेवी जी स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाती हैं। पन्त जी पहले तो जीवन का स्थूल पार्थिव दृष्टिकोण रखते हुए भी कला की सूक्ष्मता की ओर थे आज वे पार्थिव दृष्टिकोण के साथ ही पार्थिव कला की ओर आ गए हैं।

महादेवी जी के गीतों का सबसे बड़ा आकर्षण उनकी मनमोहन कोमल में कही भाषा है। भाषा की दृष्टि से महादेवी किसी कवि से कम नहीं। पन्त जी की भाषा क्लिष्ट और संस्कृत के भार से आक्रांत है। निराला की भाषा में

"जब असीम से हो जाएगा मेरी लघु सीमा का मेल।"

'सांध्यगीत' सचमुच ही इनके काव्य जीवन का 'सांध्यगीत' है। 'दीपशिखा' में इनका काव्यत्व कुछ भीना-सा और मन्द है। इनके गीतों में पच्चीकारी अधिक और भावना कम है। 'नीरजा' में इनकी काव्य-प्रेरणा वयःप्राप्त और प्रौढ़ है। 'नीहार' में ही जाकर इनके काव्य का प्रचुर विकास हुआ।

खड़ीबोली को काव्योचित भाषा देने का श्रेय विशेषकर पन्त को है। यदि पन्त जैसा कवि साहित्य-क्षेत्र में न आया होता तो स्यात् छायावाद अपनी कोमल और मसृण अभिव्यक्ति के लिए ब्रजभाषा का आश्रय लेता। पन्त जी को इसका श्रेय इसलिए है कि जहाँ ब्रजभाषा तीन सौ वर्षों में एक के बाद एक अन्यतम कवियों के आने पर प्रांजलता, मधुरता और चित्तचारुता को प्राप्त हुई वहाँ केवल बीस या बाईस वर्षों में पंत के आने पर खड़ीबोली ने वही माधुर्य प्राप्त कर लिया जो ब्रजभाषा को कई वर्षों में प्राप्त हुआ। पंत ने जो व्यक्तित्व प्रदान किया आज भी उससे न कोई आगे बढ़ा सका है और न ही उसमें व्यतिक्रम ही कर सका है। पंत ने खड़ीबोली को रमणीयता दी और महादेवी ने उसे मार्मिकता देकर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की। भाषा के सौन्दर्य में पंत जी बेजोड़ हैं और मार्मिकता की दृष्टि से महादेवी अनन्य हैं। पंत और महादेवी दोनों ने ही मुक्तक काव्य को एक निश्चित व्यक्तित्व प्रदान किया। जिस प्रकार ब्रजभाषा में मुक्तक का एक स्थिर रूप बन चुका है उसी प्रकार छायावाद में मुक्तक एक आधार-स्तम्भ बन गया। यद्यपि छायावाद को अन्य कवियों, जैसे—प्रसाद, निराला, माखनलाल, श्रीधर पाठक आदि—का भी चिंतन सहयोग मिला परन्तु पाठकों ने पंत और महादेवी के काव्य को अधिक प्रतिष्ठा दी और इन्हीं को पढ़ा।

मुक्तक के क्षेत्र में महादेवी और पंत जी में वही अन्तर है जो सूर और मीरा में है। पंत जी का मुक्तक वर्णनात्मक है और महादेवी का उद्गारात्मक। जिस प्रकार सूरदास में सख्य भाव और मीरा में माधुर्य भाव है उसी प्रकार

पंत में बालक की-सी कौतूहल वृत्ति अधिक है और महादेवी में मातृत्व-भाव अधिक है। पंत के मुक्तक बड़े और भावों से प्रसरित होते हैं, महादेवी के भाव उनके मुक्तक का संकुचीकरण करते हैं। महादेवी का काव्य एक पुष्पांजली है और पंत का काव्य चौड़ा विस्तृत उद्यान है। संगीत का माधुर्य ताल और स्वर के दृष्टिकोण से दोनों में है। काव्य में संगीत के कारण स्निग्धता है अतः कौशल कला सधा हुआ है। पंत जी यद्यपि अब संगीत का मोह छोड़ रहे हैं, फिर भी महादेवी अभी तक उनके साथ ही हैं। आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी को मिली है वैसी अन्य किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह कहीं मिलता है और न ही हृदय की ऐसी भाव-भंगिमा।"

पंत साकार की ओर उन्मुख हैं और महादेवी निराकार की ओर। पन्त कहते हैं—

> "राशि राशि सौंदर्य प्रेम,
> आनन्द गुणों का भार।
> मुझे लुभाता रूप रंग,
> रेखा का यह संसार॥"

महादेवी कहती हैं—

> "विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द।
> शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द।
> यहाँ किसका अनन्त यौवन, अरे अस्थिर छोटे जीवन॥"

महादेवी जी स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाती हैं। पन्त जी पहले तो जीवन का स्थूल पार्थिव दृष्टिकोण रखते हुए भी कला की सूक्ष्मता की ओर से आज वे पार्थिव दृष्टिकोण के साथ ही पार्थिव कला की ओर आ गए हैं।

महादेवी जी के गीतों का सबसे बड़ा आकर्षण उनकी मनमोहन [illegible] में भरी भाषा है। भाषा की दृष्टि से महादेवी किसी कवि से [illegible]। पन्त जी की भाषा क्लिष्ट और संस्कृत के भार से आक्रांत है। नि

अबाध वेग है किन्तु पच्चीकारी नहीं है। अन्य कवियों में चुन-चुनकर मोतियों की-सी जड़ाई नहीं मिलती किन्तु महादेवी जी की मधुर निर्झरिणी का मंदिर कल-कल निनाद अद्वितीय है। शब्दों की शिल्पकला महादेवी जी की अपनी है। इनकी भाषा अलंकार भार से दबी हुई अवश्य है पर एक-एक शब्द चुन-चुनकर शिल्पी की तरह इन्होंने सजाया है।

युग-युग से अधीर है महादेवी जी की भाषा। इनके शब्द अधिकतर अभिजात संस्कृत से निकले हैं। शब्दों की ध्वनियाँ सदैव कोमल हैं। ध्वनि-चमत्कार बहुत अधिक हैं, शब्द-चित्र कम हैं।

पन्त जी की भाषा संस्कृत भार से आक्रांत है। इसलिए शब्द-चित्र एक से एक बढ़कर हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग है, कि उनका अर्थ भी ध्वनि के साथ ही प्रकट हो जाता है—

"बाँसों की झुरमुट सन्ध्या का झुटपुट।
है चहक रही चिड़िया टी-वी-टी टुट् टुट्॥

पन्त जी ने शब्द चयन अवसरानुकूल किया है। कहीं भी व्यर्थ शब्द दिखाई नहीं देता। पल्लव की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः संगीत भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं।" पन्त जी की कविता कलाप्रधान हो गई है। उपमा का सुन्दर चमत्कार देखिए—

तरुवर की छायानुवाद सी उपमा की भावुकता सी।
अविदित भावाकुल भाषा सी, कटी छटी नव कविता सी॥

यही उनकी कला की व्यंजना है जो छन्दों में व्यक्त हुई है। इस प्रकार महादेवी और पन्त दोनों ही हिन्दी खड़ीबोली के साहित्य के महान कलाकार, कवि और गीति काव्यकार हैं।

प्रश्न ४२—छायावादी युग के प्रवर्त्तक महाकवि निराला और पन्त की तुलना कीजिए।

आचार्य प्रवर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा जो साहित्यिक क्रान्ति हुई उसके फलस्वरूप खड़ीबोली काव्य के क्षेत्र में भी समादृत हुई। गद्य के क्षेत्र में तो उसकी प्रतिष्ठा पहले ही हो चुकी थी। आरम्भ में खड़ीबोली काव्य में इति-वृत्तात्मकता एवं शुष्कता का होना स्वाभाविक ही था, परन्तु वह स्थिति अधिक समय तक न चल सकी। समय ने करवट बदली। कविता-कामिनी के सौभाग्य से महाकवि प्रसाद का आविर्भाव हुआ। उन्होंने उसे नवीन गति-विधि प्रदान की। उसमें मार्दव, भावुकता, कल्पना और सरलता का एक साथ संचार हुआ। योग तो कुछ प्रसाद के प्रयत्न से, परन्तु उसे विकास के पथ पर द्रुत-गति से ले जाने के लिए अवतरित हुए दो महाकवि—निराला और पन्त।

इन दोनों महाकवियों का आविर्भाव प्रायः एक ही समय में हुआ। निराला सन् १८९६ में तथा पन्त उसके एक वर्ष पश्चात् सन् १९०० में अवतरित हुए। उनके जन्म-काल के लगभग ही काव्य के क्षेत्र में खड़ीबोली का विकास आरम्भ हुआ। सन् १९१६ के लगभग जब इन्होंने थोड़ा-बहुत लिखना आरम्भ किया उस समय तक खड़ीबोली काव्य की शैली पूर्णतः स्थिर नहीं हो सकी थी। प्रसाद ने उसे जो रूप दिया था, उसे लेकर ही दोनों ने आगे बढ़ना आरम्भ किया। निराला जी का जन्म बंगाल में हुआ था। उन्होंने बाल्यकाल में ही बंगला साहित्य से परिचय प्राप्त कर लिया। बंगला ने बहुत पहले ही अंग्रेजी साहित्य की शैली का बहुत कुछ अनुसरण कर लिया था। उसके प्रभाव को निराला जी ने ग्रहण किया था। पन्त जी ने अंग्रेजी का अध्ययन किया और उसकी गति-शैली से प्रभावित हो उन्होंने उसे अपना लिया।

उस समय खड़ीबोली काव्य के सामने भाषा की दृष्टि से एक दुविधा थी। यदि कवि खड़ीबोली में उर्दू, फारसी और अरबी के शब्दों का मिश्रण करने लगते, तो यह हिन्दुस्तानी का रूप धारण कर लेती यदि और संस्कृत पदावली को ग्रहण करते तो उसमें और ही प्रकार की साहित्यिक छटा आ जाती। दोनों ही महाकवियों ने दूसरे मार्ग को अपनाना समीचीन समझा। अ

वक्तताओं में चाहे भाषा उतनी संस्कृत-गर्भित न हो, परन्तु अधिकांश कविताओं में संस्कृत का प्रभाव बहुत अधिक दीखता है। दोनों की भाषा का रूप इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा—

"भारती जय, विजय करक सस्य कमल धरे।
लंका पद्तल-शतदल गर्जितोर्मि सागर जल,
धोता शुचि चरण-युगल, स्तव कर बहु अर्थ।"—निराला

"स्वर्ग खंड षड ऋतु परिक्रमित, आम्र मंजरित, मधुप गुंजरित,
कुसुमित फल द्रुम पिक कल कूजित उर्वर अभिमत हे,
दश दिशि हरित शस्य श्री हर्षित, पुलक राशिवत् हे,
जय भारत हे, जाग्रत भारत हे।"—पन्त

यद्यपि हिन्दी-साहित्य में वैष्णव-भक्तों के द्वारा गीतों की अत्यधिक रचना हो चुकी थी, परन्तु उन्होंने उस गीति-शैली को न अपनाकर अंग्रेजी लीरिक-शैली को ही अपनाया। निराला जी ने संगीत पर अपनी ध्वनि को इतना केन्द्रित किया है कि कहीं-कहीं उनके काव्य में संगीत के आग्रह ने भावों की हत्या ही कर दी है। एक उदाहरण देखिए—

"अभरण भर वरण-गान
वन-वन उपवन-उपवन,
जाग छवि, खुले प्राण।
मधुप-निकर कलरव भर
गीत मुखर पिक-प्रिय स्वर,
स्मर शर हर केसर-झर
मधु-पूरित गन्ध, ज्ञान।

पंत जी ने भी लय और गति का पर्याप्त ध्यान रखा है। उन्होंने अपनी शैली को सुसज्जित करने के लिए अंग्रेजी काव्य के अनुसार लाक्षणिक वैचित्र्य, अप्रस्तुत विधान आदि को विशेष रूप से अपनाया है।

महाकवि निराला ने आरम्भ में छन्द को बन्धन-मुक्त करने का साहस दिखाया। कविता सुन्दरी को सम्बोधित कर उन्होंने कहा—

> "प्रिय छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह,
> गजगामिनी वह पथ तेरा संकीर्ण, कंटकाकीर्ण॥"

आरम्भ में इस शैली का विरोध अवश्य हुआ, किन्तु आगे चलकर वह अपनाई जाने लगी। पन्त जी ने भी अनेक कवितायें इसी शैली पर लिखी हैं।

निराला जी की शैली पर थोड़ा-सा विचार करने के अनन्तर हम इसके भावपक्ष पर आते हैं। पन्त का जन्म कूर्मांचल जैसे प्रकृति के सुन्दर प्रांगण में हुआ था। बाल्यकाल से ही प्रकृति सुन्दरी के कोमल क्रोड़ में पले थे। साहचर्य के कारण प्रकृति उनकी अपनी बन गई थी। अतः स्वभावतः उनके काव्य में सबसे अधिक वर्णन यदि किसी का हुआ तो प्रकृति का। जब कवि स्वयं प्रकृतिमय हो गया हो तो उसे प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में अपने हृदय का दर्शन हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है? निराला ने भी प्रकृति-चित्रण पर ध्यान दिया है, पर दोनों के प्रकृति-चित्रण में अन्तर है। निराला स्वामी विवेकानन्द और कवि सम्राट् रवीन्द्र के साहित्य से प्रभावित थे। बाल्यकाल से ही उनकी विचारधारा में वे डुबकी लगा चुके थे। अतः उनके प्रकृति-चित्रण में अद्वैतवाद-संबंधी वेदांत का पुट मिल गया है। प्रकृति के प्रतीकों का प्रयोग निराला ने जीवात्मा और परमात्मा के लिए किया है। उनके मिलन का चित्रण उन्होंने इतना खुल कर किया है कि यदि हम वेदांत की विचारधारा का आरोप ऐसी कविताओं में न करें तो अश्लीलता में वे रीतिकालीन कवियों की शृंगारिक कविता से भी अधिक दीख पड़ें। पंत ने प्रकृति का चित्रण करते समय यदि रहस्यवाद आ जाता है तो वह अत्यन्त स्वाभाविक दिखाई देता है। 'मौन-निमन्त्रण' कविता इसका अच्छा उदाहरण है। निराला की कविताओं में स्पष्ट रूप से वेदांत दीख पड़ता है। पर पंत इस प्रकार के 'वाद' के बन्धन से सर्वथा मुक्त हैं, यह दोनों में बड़ा अन्तर है। प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त दोनों

प्रेम की टीस निराशा-आशा की छाया तथा आगे चलकर करुणा और देशभक्ति
दर्शन होते हैं।

दोनों ही महाकवि अपने बदलते युग के साथ बदलते रहे हैं, यह साहित्य
लिये स्वस्थ चिह्न है। पंत की प्रारम्भिक कविताओं में ऐसा दीख पड़ता है मा
कवि की अपने हृदय की वेदना ही उसके काव्य में झलक रही है। सौंदर्य, प्रे
और वेदना ही उनके लक्ष्य हैं। धीरे-धीरे अपनी वेदना से हट वह जगत् क
वेदना से पीड़ित होता है। वह देखता है और चाहता है—

"जग पीड़ित है अति दुःख से, जग पीड़ित है अति सुख से।
मानव जग में बँट जावें दुःख, सुख से औ' सुख दुःख से॥"

वह जगत् में सुख-दुःख का सम-विभाजन चाहता है, यह विभाजन कैसे
हो? इसका हल क्या है? उसे लगता ... गाँधीवाद से इसका हल हो सकता है।
वह आगे बढ़कर उस... स्वागत करता है। चरखा देखते ही सहसा उसके हृदय से
यह स्वर फूट पड़ता है—

"नग्न गात यदि भारत माँ का,
तो खादी समृद्धि की राका,
हरो देश की दरिद्रता का,
तम, तम, तम! श्रम, श्रम, श्रम!"

परन्तु उसे गाँधीवाद में देश के दैन्य-दलन की पूर्ण सामर्थ्य न दिखी और
वह साम्यवाद की ओर झुका। उसने पूँजीपतियों के प्रति कहा—

"वे नृशंस हैं वे जन के श्रमबल से पोषित,
दुहरे धनी, जोंक जग के, भू इनसे शोषित।
जग जीवन का दुरुपयोग है इनका जीवन,
अब न प्रयोजन उनका, अन्तिम हैं उनके क्षण॥"

धीरे-धीरे साम्यवाद की भावनाएँ इतनी प्रबल हो गई हैं कि कवि उस...
रंगीन चश्मा लगाकर सब वस्तुओं को देखने लगा। जिस ताजमहल के सौंद...

पर सदा से कवि-समाज मुग्ध होता आया है उसे देखकर कवि के मुख से ये शब्द निकल पड़े—

> "हाय, मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन।
> जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन।
> शव को दें हम रूप रंग, आदर मानव का।
> मानव को हम कुत्सित चित्र बनावें शव का॥"

निराला का ध्यान भी देश की दलित दशा की ओर गया। उन्होंने कभी देश के प्राचीन खंडहरों के प्रति दृष्टि दौड़ाई, कभी प्राचीन वैभव-सम्पन्न दिल्ली से प्रश्न किया, कभी विधवा को देखकर दुःखी हुआ और कभी उसकी दृष्टि गई उस श्रमिक नारी की ओर जो इलाहाबाद के पथ पर चिलचिलाती दोपहरी में पत्थर तोड़ रही थी। निराला ने पंत की तरह साम्यवाद को ग्रहण नहीं किया। पंत की इस प्रकार की कविताओं को देखकर आलोचकों को सन्देह होने लगा था कि कहीं 'वाद' के चक्कर में पड़कर वे हिंदी के सुकुमार कवि अपने कवि रूप को न खो बैठें। अब पंत जी की आधुनिकतम रचनाओं को देखकर ऐसा लगता है कि उनकी वाणी ने फिर एक मोड़ लिया है।

इस प्रकार ये दोनों महाकवि आधुनिक हिंदी-साहित्याकाश के दो देदीप्यमान नक्षत्र हैं। निश्चय ही इन दोनों की वाणि ने हिन्दी को प्रकाशपूर्ण बनाया है।

प्रश्न ४४—प्रसाद जी की रचनाओं का सामान्य परि[illegible] और सिद्ध कीजिये कि उनकी प्रतिभा सर्वतोमु[illegible]

सरस्वती देवी के मन्दिर में आज [illegible]
पना की है और राज्य-पुष्पहार [illegible]
इस देवी को प्रसन्न करने [illegible]
तपस्या करने में [illegible]
होगी कि अन्त [illegible] लिया और [illegible]
अमरत्व प्राप्त किया।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रसाद जी के साहित्यिक व्यक्तित्व क
अत्यधिक महत्त्व है। वे संसार के उन अल्पसंख्यक मनुष्यों में से एक हैं जिनक
प्रतिभा साहित्य के एक अंग में ही नहीं अपितु सभी अंगों में समान रूप से
प्रस्फुटित होती है। उनकी काव्य और नाट्य प्रतिभा तो सर्वश्रेष्ठ है ही, यह
तो निर्विवाद सिद्ध है परन्तु इसके साथ ही उनकी उपन्यास प्रतिभा की भी
सहज ही उपन्यास सम्राट् मुन्शी प्रेमचन्द की उपन्यास प्रतिभा के साथ तुलना
की जा सकती है। कलाकार और निबन्धकार के रूप में भी वे किसी से कम
नहीं हैं। इस विषय में डा० नगेन्द्र का कथन है—"प्रसाद जी हिंदी जगत
में अमर शक्ति लेकर अवतीर्ण हुए थे। उनकी प्रतिभा सर्वथा मौलिक थी।
उन्होंने साहित्य के जिस अंश का भी स्पर्श किया उसी को सोना बना दिया।"
इसी प्रकार गुलाबराय जी ने एक स्थल पर कहा है कि "प्रसाद जी पारस थे,
साहित्य के जिस भी रूप को उन्होंने हाथ लगाया, उसी को (स्वर्ण की भाँति)
जगमगा दिया।" इस प्रकार अनेक प्रकार की उच्चतम और श्रेष्ठतम प्रति-
भाओं से युक्त होने के कारण वे 'हिन्दी के रवीन्द्रनाथ' भी कहे जाते हैं।
कतिपय विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि रवीन्द्रनाथ की परिस्थितियाँ
और सुविधाएँ प्रसाद को प्राप्त नहीं थीं। यदि होतीं, तो वे भी 'नोबेल पुर-
स्कार' के विजेता हो सकते थे। वास्तव में प्रसाद जी की 'कामायनी' टैगोर
की 'गीतांजली' से टक्कर ले सकती है। इसके अतिरिक्त कामायनी की रचना
के विषय में प्रसाद जी ने स्वयं कहा है कि "कामायनी लिखकर मुझे संतोष
हो गया है।" इससे भी अनुमान लगा सकते हैं कि उनकी यह कृति कितनी
उत्कृष्ट होगी।

प्रसाद जी का साहित्यिक जीवन अल्पकालीन होते हुए भी अत्यन्त मह-
त्वपूर्ण है। इन्होंने इसी अल्पकाल में "हिंदी के काव्य, नाटक, कथा, निबंधादि
के क्षेत्र में ऐसे वृक्ष लगाए, जो सदैव अपनी शोभा से रसिकों का हृदय आक-
र्षित करते रहेंगे।" इनका साहित्य-काल सन् १९०९ से १९३६ तक माना
जाता है। अब हम इनकी भिन्न-भिन्न प्रतिभाओं का भिन्न-भिन्न रूप से उल्लेख

करेंगे । इनके काव्य पर ध्यान डालने से मालूम होगा कि इनकी क्रमानुसार रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

चित्राधार (१६०८ से १६१८), कानन-कुसुम (१६१२), प्रेम-पथिक (१६१३), महाराणा का महत्त्व (१६२४), आँसू (१६२५-२६), झरना (१६२७), लहर (१६३५) और कामायनी (१६३६) ।

प्रसाद जी का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ था, जब भारतेन्दु-युग का अन्त हो चला था और द्विवेदी युग का आरम्भ हो रहा था, अतएव साहित्य के क्षेत्र में उथल-पुथल मच रही थी। युग-परिवर्तन के कारण से काव्य के उपकरण भाषा, भाव और छंद आदि सभी प्रणाली परिवर्तित हो रही थी, फलस्वरूप प्रसाद जी को अपनी काव्य रचनाओं में सफलता प्राप्ति के लिए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

इनके सर्वप्रथम 'चित्राधार' काव्य में ब्रज और खड़ीबोली का मिश्रण है । यह पुस्तक पाँच विभिन्न खंडों में विभाजित है और पाँचों खंडों में भिन्न-भिन्न उद्देश्यों पर कविता की रचना की गई है । 'कानन-कुसुम' में कवि ने विभिन्न प्रकार के सादे और रंगीन, सुगन्धित और निर्गन्ध पुष्पों का वर्णन किया है । 'महाराणा का महत्त्व' अतुकांत शब्दों में लिखा गया काव्य है । इसमें कवि को ऐतिहासिक आदर्शों से प्रेरणा लेने की प्रवृत्ति प्रकट है । भाषा का प्रवाह और भावों का स्वच्छन्द गति से बढ़ना ही इसकी विशेषता है । 'प्रेम-पथिक' भावों के विकास और पवित्रता की दृष्टि से प्रसाद का श्रेष्ठतम काव्य है। इसमें कवि ने प्रेम की गूढ़ व्याख्या और महत्त्व को बताया है और प्रेम का उच्चतम रूप बलिदान और आत्मोत्सर्ग ही है—अपनी इस भावना को स्पष्ट किया है। प्रेम के विषय पर आशा और उत्साह से परिपूर्ण यह हिन्दी का प्रथम काव्य है। 'झरना' काव्य द्वारा हिन्दी में छायावाद की उत्पत्ति हुई। इसमें भाषा का आडम्बर नहीं, केवल भाव-प्रकाशन पर बल दिया गया है । इसमें कवि ने यौवनकाल में प्रेम की चंचलता का वर्णन किया है। आँसू काव्य

में कवि ने अनुभूतियों की तीव्रता और प्रेम की गहरी भावना को प्रकट किया है। प्रायः लोग इसे आध्यात्मिक या रहस्यवादी कविता समझ लेते हैं परन्तु वस्तुतः सांसारिक प्रेम-व्यवहार का एक वियोगात्मक व्याख्यान है। 'लहर' काव्य में कवि ने प्रेम का प्रतिपादन न पाकर अपनी निराशा और वेदना को प्रकट किया है। इसमें कवि अत्यंत कोमल और भावुक होकर जीवन का स्पर्श करता है। इसकी काव्य-कला पूर्ण विकसित है। इसके गीत हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं, प्रकृति के अत्यन्त सुन्दर चित्र हैं। 'कामायानी' प्रसाद जी की अन्तिम और श्रेष्ठतम रचना है। इसमें मानव जाति का ऐतिहासिक विकास और आध्यात्मिक भावना का समन्वय है। इसको चित्त-वृत्तियों का महाकाव्य कहा गया है। इसमें चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा आदि १५ सर्ग हैं। सर्गों का विभाजन वृत्तियों के नाम पर हुआ है। उनके रूप को खड़ा करने में कवि ने कमाल कर दिया है। मनोविज्ञान को काव्य-रूप देने का यह पहला प्रयत्न है। चिन्ता, आशा, श्रद्धा, लज्जा आदि के चित्र ज्यों के त्यों बन जाते हैं। पूरी 'कामायनी' में जीवन की आवश्यक वृत्तियों का क्रमिक विकास दिखाया गया है। मनु, श्रद्धा, इड़ा और मानव—इन चार पात्रों के ही माध्यम से प्रसाद ने मानव-जीवन का आन्तरिक पहलू अपने काव्य में अमर कर दिया है। इन सब विशेषताओं के अतिरिक्त पर्वत, नदी, संध्या, प्रभात, रात्रि आदि प्रकृति के सुन्दर चित्रों का भी इसमें अभाव नहीं है। इसकी भाषा प्रौढ़, प्रांजल और परिष्कृत खड़ीबोली है। छायावादी काव्य की सभी विशेषताएँ इसमें हैं।

सारे रूप में इनकी काव्य रचना के बारे में कहा जा सकता है कि प्रसाद मूलतः प्रेम, विलास और सौन्दर्य के कवि हैं, परन्तु उस अर्थ में रहस्यवादी नहीं जिस अर्थ में हम मीरा और कबीर को रहस्यवादी मानते हैं। प्रकृति के दृश्य भी सुन्दर अंकित किए गए हैं, परन्तु सामूहिक रूप से प्रेम पहले आता है और प्रकृतिवाद बाद में रूप-विलास और यौवन के रंगीन चित्र देने में प्रसाद बेजोड़ हैं।

नाटककार के रूप में प्रसाद पर दृष्टि डालें तो मालूम होगा कि जिस समय

उन्होंने नाटक क्षेत्र में कदम रखा, उस समय हिंदी में कोई विशेष नाटककार नहीं था। प्रायः बंगला साहित्य के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया जाता था। वह समय राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यिक उथल-पुथल का था। कांग्रेस का उदय और आर्यसमाज का उत्थान शीघ्रतापूर्वक हो रहा था, अतएव इन परिस्थितियों से प्रभावित होना प्रसाद जी के लिए स्वाभाविक ही था। दूसरे, मूलतः दार्शनिक होने के कारण प्रसाद जी ने प्राचीन साहित्य और इतिहास का भी अध्ययन किया। परिणामस्वरूप उनकी नाट्य-कृतियों में प्रायः सामाजिक और ऐतिहासिक वर्णन मिलता है। इनकी नाट्य-रचनाएँ निम्नलिखित हैं:—

सज्जन (१६१०-११), करुणालय (१६१२), कल्याणी-परिणय (१६१३), प्रायश्चित्त (१६१४), राज्यश्री (१६१५), विशाख (१६२१), अजातशत्रु (१६२२), कामना (१६२३-२४) जनमेजय का नागयज्ञ (१६२६), स्कन्दगुप्त (१६२८), एक घूँट (१६२८), चन्द्रगुप्त (१६३१), ध्रुवस्वामिनी (१६३३)।

इनके आरम्भिक चार नाटकों ने कवि की प्राचीन एवं नवीन पद्धति और भिन्न-भिन्न कालों के प्रति मानसिक विकास की ओर संकेत है। 'सज्जन' महाभारत का एक अंश है, 'कल्याणी-परिणय' में सेल्युकस की पराजय व उसकी पुत्री का चन्द्रगुप्त से विवाह वर्णन है। इन दोनों में नांदी और सूत्रधार का विधान है और अन्त में भरत-वाक्य भी है परन्तु 'प्रायश्चित्त' में न नांदीपाठ है, न सूत्रधार और न भरत-वाक्य। 'करुणालय' में महाराज हरिश्चंद्र की कथा का वर्णन है। वह गीत नाट्य शैली पर लिखा हुआ दृश्य काव्य है। इसकी रचना अतुकांत मात्रिक छंदों में हुई है। 'विशाख' एक ऐतिहासिक नाटक है जिसकी कथा कल्हण की 'राजतरंगिनी' से ली गई है। इसमें प्रसाद के स्वतन्त्र चिन्तन की झलक मिलती है। 'राज्यश्री' बाणभट्ट के 'हर्षचरित' से लिए गए विवरण के अनुसार है। यह पद्यात्मक है जिसकी भाषा प्रधानतः खड़ी बोली है। 'अजातशत्रु' में कौशल, कौशाम्बी और मगध के राजपरिवारों के आन्तरिक संघर्ष का

चित्रण है । इसमें प्रसाद के नाटकीय विकास का संकेत है । 'जनमेजय के नागयज्ञ' में आर्य और नागजाति के संघर्षों की कथा वर्णित है । इनका 'स्कन्दगुप्त' तो सर्वश्रेष्ठ नाटक कहा जाता है । इसकी घटनाएँ मालवा और कुसुमपुर में घटती हैं । इसका लक्ष्य कौटुम्बिक कलह की शांति और राष्ट्रीय गौरव की रक्षा करना है । 'चन्द्रगुप्त' में सिकन्दर के आक्रमण, नन्दवंश का नाश और मौर्य साम्राज्य की स्थापना का वर्णन है । इसके द्वारा प्रसाद ने हत्याओं और षड्यन्त्रों के बीच भी भारतीयता की उज्ज्वल झलक दिखाई है । 'ध्रुवस्वामिनी' में समुद्रगुप्त द्वारा चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी चुने जाने, रामगुप्त को राज्य की प्राप्ति, उसकी विलासिता और उसके द्वारा महादेवी ध्रुवस्वामिनी के बन्दी होने का वर्णन है । यह नाटक प्रत्येक दृष्टि से सफल है; विशेष रूप से साहित्यिकता और अभिनेयता की दृष्टि से सफल है । 'कामना' नाटक के पात्र मनुष्य न होकर भावनाओं और विचारों के प्रतिनिधि हैं । इसमें सृष्टि के आदि से लेकर आधुनिक काल तक के समाज का विकास दिखलाया गया है । यह काल्पनिक कहानी वर्तमान सभ्यता पर एक कटु व्यंग है और सृष्टि के पतन के स्वरूप को स्पष्ट कर देती है । 'एक घूँट' का विषय प्रेम है । इसके पात्र प्रकृति के उपकरण हैं । इसमें प्रसाद जी ने स्वच्छन्द प्रेम और विवाहित जीवन पर प्रकाश डाला है ।

भिन्न-भिन्न नाटकों के भिन्न उद्देश्य होने पर भी समान रूप से प्रत्येक नाटक में पाई जाने वाली कुछ विशेषताएँ भी हैं जैसे कि भारतीय संस्कृति के
ति अगाध प्रेम, भावों की प्राचीनता के साथ नवीनता का भी पुट, कवित्व-
यता, नियतिवादिता और चरित्र-प्राधान्य आदि । इनके गुणों के साथ प्रसाद
नाटकों में कुछ दोष भी हैं जिनमें मुख्य यह है कि वे रंगमंच पर नहीं खेले
सकते । उनके नाटकों में लम्बे-लम्बे स्वगत कथन, सम्वाद, गीत, कवित्व
र दर्शन से पूर्ण क्लिष्ट भाषा, पात्रों का आधिक्य, घटनाओं का घटाटोप, रंग-
पर न दिखाये जाने वाले वध और युद्ध आदि दृश्यों का समावेश, अंकों
श्यों को रंगमंच के अनुकूल नहीं होने देते । इसके अतिरिक्त वे नाटक लम्बे

भी इतने हैं कि दो-तीन घंटे में, जो नाटक के लिए नियत समय है, नहीं खेले जा सकते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद की नाट्यकला के विषय में आलोचक चाहे जो कहें परन्तु उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना, उनका कवित्व तथा दार्शनिक चिन्तन, उनकी स्वाभाविक चरित्र-कल्पना, उनका राष्ट्रीयता के प्रति आग्रह, उनका संघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज का प्रयत्न आदि ऐसी बातें हैं, जो इन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार घोषित करती हैं और इनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य की वस्तु बना देती हैं।

अब हम प्रसाद जी के उपन्यास साहित्य पर आते हैं। प्रसाद जी हिन्दी के आधुनिक मुख्य उपन्यासकारों में से एक हैं। इन्होंने उस समय उपन्यास-रचना आरम्भ की थी जब कि हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र में प्रेमचन्द जी के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमुख उपन्यासकार नहीं था। इस समय प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के अतिरिक्त कुछ जासूसी एवं तिलस्मी उपन्यास भी लिखे जा रहे थे। ऐसे जासूसी, तिलस्मी तथा घटनाप्रधान एवं पौराणिक उपन्यासों के युग में प्रसाद जी ने चरित्र-प्रधान उपन्यासों का आयोजन किया—यही उनकी विशेषता है।

इन्होंने 'तितली' (१६२४) और कंकाल (१६२६) नामक दो पूर्ण और 'इरावती' (१६३७) नामक एक अपूर्ण उपन्यास की रचना की है। इनके 'तितली' और 'कंकाल' नामक उपन्यास सामाजिक हैं। समाज के सभी अंगों पर इन्होंने दृष्टि डाली है। पूजा-पाठ, विवाह, शिक्षा, अर्थ आदि विषयों का इस समाज में क्या स्वरूप है? इन प्रश्नों का ही उत्तर इन उपन्यासों में मिलता है। पुरुष और स्त्री का समाज में क्या स्थान है? उनका एक दूसरे के प्रति कौन-सा सम्बन्ध समाज के लिए हितकर हो सकता है? ऐसे प्रश्न ही उनकी समस्या के मूल में हैं। इन उपन्यासों का कथानक प्रायः ऐतिहासिक है, चरित्र-चित्रण में भी पात्र आदर्शवादी न होकर सजीव प्राणी हैं। संवाद उप-

युक्त, ओजपूर्ण, अवसरानुकूल और स्पष्ट हैं। विचारधारा सुधार की है व नियतिवाद पर विश्वास किया गया है। इस प्रकार कथानक की मौलिकता पात्रों की स्पष्टवादिता, मानसिक द्वन्द्व के सुन्दर शब्दचित्र, दृश्यों का सुन्दर वर्णन, भावों की प्रवीणता और जागरण, भाषा-सारल्य आदि उनके उपन्यास के मुख्य गुण हैं जिनके कारण उपन्यास क्षेत्र में भी उनको सफल कहा जा सकता है।

कहानीकार के रूप में भी प्रसाद जी पूर्ण सफल हैं। उनके छाया (१९१२) चित्राधार (१९१८), प्रतिध्वनि (१९२६), आकाशदीप (१९२९), आँधी (१९३१), इन्द्रजाल (१९३६) छः कहानी संग्रह हैं। उनकी कहानियों के पर्यावलोकन से ज्ञात होगा कि वे कथाकार की सीमाओं से भली-भाँति परिचित हैं। कला की उपयोगिता वाद के आगे रखते हैं, पीछे नहीं। एक तरह से उनके व्यक्तित्व ने अतीत और वर्तमान, पुरातन और नूतन, रोमांस और यथार्थ को एक ही आलिंगन में समेट लिया। उन्होंने अपने कोमल हृदय से पत्थरों का रोना, लहरों का संगीत, पवन की मुस्कराहट इत्यादि अनेकों ही सूक्ष्म बातें तो सुनी ही हैं, साथ ही दुःखी हृदय के तीव्र क्रन्दन को भी अन्तरात्मा की श्रवणेन्द्रिय से सुना है। यह करुणा का काल्पनिक नहीं, वास्तविक रूप है। उनका कथा साहित्य अतीत और करुणा के दो विशिष्ट अंशों को लेकर चलता है। अतीत का अर्थ है 'स्वच्छन्दतावादी रूप', करुणा का अर्थ है साहित्य का वस्तु प्रधान 'दुःखवादी रूप'। दोनों रूपों में प्रसाद की कथा अनुपम रस की सृष्टि कर सकती है। कला का ऊँचा धरातल, ध्वन्यात्मक शैली, रहस्य और औत्सुक्यपूर्ण ढंग से कथा का विकास, पात्रों का एकाकी होना और प्रेम की पीड़ा का सर्वत्र व्याप्त होना आदि प्रमुख विशेषतायें हैं।

प्रसाद के निबन्ध साहित्य पर विचार करने से ज्ञात होगा कि उन्होंने निबन्ध सम्बन्धी एक ही पुस्तक 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (१९३०-१९३६) लिखी है। उनके ये निबन्ध न केवल साहित्य और समाज की दृष्टि

"गूंगे केरी सर्करा,बैठा ही मुसकाइ" या पुहुप वास ते पातरा" कहकर कबीर उस अज्ञात शक्ति-सत्ता की ओर संकेत करते हैं जो अलख, अगोचर और अगम्य है। इस प्रकार रहस्यवाद में ब्रह्म के लिए आत्मा के प्रेम की प्रधानता का गुण पाया गया । प्रेम सम्बन्धी इस व्यंजना को कबीर ने अपने काव्य में तीन रूप दिए—(१) रहस्यात्मक खोज, (२) रहस्यात्मक विवाद, (३) रहस्यात्मक स्पर्श। कबीर में भारतीय रहस्यवाद का रूप साकार हुआ किन्तु जायसी के काव्य में फारसी के सूफीवादी रहस्य के दर्शन हुए।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के भक्तिकालीन साहित्य में रहस्यवाद के रूप का एक स्पष्ट चित्र बन जाता है जिसमें (१) जीवात्मा की अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन, (२) अलौकिक शक्ति से शान्त व निश्छल सम्बन्ध जोड़ना, (३) बुद्धि के ज्ञेय का हृदय का प्रेम बन जाना, (४) आत्मनिवेदन की प्रधानता, (५) विरह का आवेग, (६) अद्वैत भाव का प्रकाशन आदि विशेषतायें पाई जाती हैं।

श्री विश्वनाथसिंह के अनुसार ब्रह्म का जो स्वरूप रहस्यवाद का आधार है वह दार्शनिक उड़ान की चरमसीमा है।

भक्तिकाल में ब्रह्म को रहस्यवादी भावना ने प्रधानता दी किन्तु जायसी और कबीर के रहस्यवाद के दो भिन्न रूप दिखाई दिये।

कबीर के रहस्यवाद में, साधना की गहराई है, जीवात्मा तथा परमात्मा के सम्मिलन का मधुर रहस्य है।

जायसी के रहस्यवाद में लौकिकता को भी प्रधानता दी गई है। वह इस्लामी एकेश्वरवाद के निकट है। जायसी प्रकृति को भी अपने रहस्यवाद में स्थान देते हैं और उन्हें अपने प्रियतम की तस्वीर प्रत्येक कण में दिखाई देती है। जायसी ने प्रियतम प्राप्ति के मार्ग में पड़ने वाले साधना-सोपानों का भी वर्णन किया है।

इस प्रकार काव्य में रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान से न होकर हृदय से

स्थापित हुआ। अध्यात्म-भावना द्वारा मानव को उसकी अखंड-सत्ता-सम्बन्ध से परिचित कराया गया। परोक्ष सत्ता के साक्षात्कार की तीन अवस्थायें स्पष्ट दिखाई दीं—

(१) पूर्व तद्रूप, (२) तद्रूप, (३) प्राग् तद्रूप।

तन्मयता के प्रारम्भिक प्रयासों को पूर्व तद्रूप कहा गया। तन्मयता की दशा तद्रूप कहलाई तथा तन्मयता के परे की स्थिति को प्राग् तद्रूप कहा गया।

भक्तिकाल से अग्रसर होकर रहस्यवादी भावनायें साहित्य में प्रच्छन्न सम्बन्ध बनायें रहीं और आधुनिक काव्य साहित्य में इस भावना के दर्शन प्रसाद, पंत, निराला तथा महादेवी के काव्य में हुए।

स्पर्जन नामक एक अंग्रेज विद्वान् ने रहस्यवाद सम्बन्धी अपने एक ग्रन्थ में रहस्यवादी चिन्तन प्रणाली के चार प्रकार बताये हैं—

(१) प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवादी कवि।

(२) दार्शनिक रहस्यवादी कवि।

(३) धार्मिक और उपासक रहस्यवादी कवि।

(४) प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवादी कवि।

प्रेम तथा सौन्दर्य सम्बन्धी रहस्यवाद के दर्शन प्राचीन कवि जायसी तथा कबीर और नवीन कवि 'भारतीय-आत्मा' तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविताओं में हुए।

दार्शनिक रहस्यवादी कवियों में जयशंकर प्रसाद, निराला इसी रहस्यवाद को अपने काव्य में प्रस्तुत करने में सफल हुए।

धार्मिक और उपासक रहस्यवादी कवियों में मीरा, दादू आदि का नाम लिया जा सकता है।

प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवादी कवियों में सुमित्रानन्दन पंत, रामनरेश त्रिपाठी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

रहस्यवाद की उत्पत्ति में बाह्य परिस्थितियों का बहुत हाथ रहता है। क[illegible]
कभी सांसारिक परिस्थितियों की प्रतिकूलता ही अन्तर्मुखी होकर रहस्यवादी
जाती है। रहस्यवादी कविता में इसी कारण करुणा की तरलता की झलक मिल[illegible]
है। रहस्यवादी कविता के कुछ उदाहरणों से यह वाद स्पष्ट हो जायेगा—

"मैं नीर भरी दुःख की बदली।"

अथवा

"चकवी बिछुरी रैनिकी आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुरे राम से, ते दिन मिले न राति॥"

रहस्यवाद की करुणा नैराश्य से उत्पन्न होने वाली करुणा नहीं है। यह करुणा प्रणयानुभूति से उत्पन्न हुई है। रहस्यवाद में जहाँ अश्रु और व्यथा का आधिक्य है वहाँ प्रेम तथा शृंगार का भी प्राधान्य है। छायावाद में जहाँ कवि प्रकृति तक रहता है रहस्यवाद में कवि अज्ञात सत्ता की अधिक निकटता का अनुभव करता है। जैसे—

"वे मंथर सी लोल हिलोर, फैला अपने अंचल छोर।
कह जातीं—उस पार बुलाता है हमको तेरा चितचोर॥"

शैली की दृष्टि से विचार करने पर रहस्यवादी कविता में भी मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाव-वक्रता, लाक्षणिकता, प्रतीकों की प्रधानता आदि के दर्शन होते हैं।

रहस्यवादी कविता, शैली की दृष्टि से जहाँ हिन्दी कविता में नवीनता लाई वहाँ भावना के क्षेत्र में इस काव्य में प्रेम और सौन्दर्यानुभूति के मार्मिक चित्र उपस्थित किये। असीम को विश्व के कण-कण में खोजने की जिज्ञासा इस काव्य में उभरी।

"तुम मानस में बस जाओ,
छिप दुख के अवगुंठन से,
मैं तुम्हें ढूँढ़ने के मिस,
परिचित हो लूँ कण-कण से॥"

प्रेम पीर को वरदान समझकर उसकी भी मादकता के सौन्दर्य से पूर्ण महा[illegible]
जी ने कहा—

"प्रिय से कम मादक पीर नहीं।"

अथवा

"नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर है।
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ॥"

रहस्यवादी काव्य परोक्ष सत्ता के आकर्षण से पूर्ण, आत्म-निवेदन से युक्त, हृदय की तरल अनुभूतियों का वह कलात्मक प्रकाशन है जिसमें मानव मानसिक संयोग-वियोग से उत्पन्न अनुभव लहरों को कविता के रूप में प्रकट करता है। तब कवि के सजल गान निर्झर की तरह फूटकर बह निकलते हैं।

छायावाद का विकसित रूप रहस्यवाद स्वीकार किया गया। रहस्यवादी काव्य अवरोध, अनुभूति, [illegible] है।

"चुभते ही तेरा अरुण बान,
बहते कन-कन से फूट-फूट मधु के निर्झर सजल गान।"

रहस्यवादी [illegible] को विच्छिन्न रहता है। किन्तु रहस्यवादी कवियों [illegible] के नवीन प्रयोग से उप-स्थित किये वह [illegible] हो गया है।

रहस्यवादी कविता [illegible] है, किन्तु आज [illegible] काव्य अपनी दुर्बलताओं से दूर [illegible] प्रगतिवादी कविता में बदल गया है। आज की कविता में [illegible] आकर्षण [illegible] है। किन्तु इस-[illegible] रहस्यवादी भावनाओं [illegible] के दर्शन आज भी पत्र-पत्रिकाओं में [illegible] जाते हैं। आत्मा-परमात्मा [illegible] स्थायी [illegible] है। अतः रह-[illegible]वादी भावधारा क्षीण हो सकती है, किन्तु उसके [illegible] की सम्भावना [illegible] नहीं देती।

प्रश्न ४६—छायावाद के सम्बन्ध में एक लेख लिखिए।

हिन्दी साहित्य में छायावाद का [illegible] सन १९१८-२० से [illegible]

जाता है, किन्तु काव्य में छायावादी तत्त्वों का आभास कई वर्ष पहले से ही होने लगा था। द्विवेदी युग में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता थी। द्विवेदी काल की काव्य-भाषा में शैली तथा रचना-कौशल का इसलिए अधिक विकास नहीं हो सका कि उस पर सामाजिक तथा नैतिकता के मानों का अधिक प्रभाव रहा। इस युग की शुष्क काव्य-साधना के प्रति छायावाद हिन्दी काव्य के नये मानों तथा गुणों को लेकर प्रतिक्रिया या विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ।

छायावादी प्रवृत्तियों की उत्पत्ति में साम्राज्यवादी व्यवस्था से उत्पन्न होने वाले असन्तोष, विद्रोह, अनैतिकता आदि भी सहयोगी बनकर उपस्थित हुए। अन्तर्मुखी भावनायें जब खण्डित स्वप्नों, अतृप्त वासनाओं, अस्पष्ट अभिलाषाओं को साकार करने के लिए प्रकट हुईं, तब छायावाद का जन्म हुआ।

प्रारम्भ में 'छायावाद' को अनर्गल प्रलाप, अस्पष्ट-भावहीन, विचारहीन साहित्य समझा गया और व्यंग में इसे "छायावाद" की संज्ञा दी गई, किन्तु बाद में व्यंग वास्तविकता के रूप में प्रकट हुआ और साहित्य में अपना निश्चित स्थान बनाने में इसे सफलता मिली।

छायावाद को शुक्ल जी ने दो रूपों में स्वीकार किया—

(१) काव्य विषयक वस्तु के रूप में, तथा

(२) काव्य शैली के रूप में।

शुक्ल जी छायावादी काव्य वस्तु को रहस्यवाद मानते थे और उसकी शैली छायावाद।

जैनेन्द्रकुमार ने छायावाद के सम्बन्ध में लिखा—"छायावाद में अभाव को अनुभूति से अधिक कल्पना से भरा पाया।"

[illegible]राज ने छायावाद के सम्बन्ध में लिखा "छायावाद पौराणिक के [illegible] आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह है।"

[illegible] जिन परिस्थितियों [illegible] मारी कर्मवृत्ति को [illegible] उन्हीं ने [illegible] को छायावाद

[illegible] निम्नलिखित

की काव्य-कला विलीन होती गई और पंत, निराला, प्रसाद, महादेवी के संरक्षण में साहित्य वन में छायावाद पुष्पित हुआ। प्राचीनता पर नवीन चेतना की विजय हुई। यहाँ तक कि सफल साहित्यिक किन्तु कठोर समीक्षक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को भी कहना पड़ा—"छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का अच्छा विकास हुआ इसमें सन्देह नहीं।"

प्रसाद की 'आँसू' तथा 'झरना', पंत की 'वीणा', 'पल्लव', 'गुंजन', महादेवी की 'नीहार', 'नीरजा', 'दीपशिखा', 'रश्मि', निराला की 'अनामिका', 'परिमल', 'गीतिका' आदि कृतियों में समावेश की आकुलता, भाषा की वक्रता, कोमलकांत पदावली, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, लाक्षणिक वैचित्र्य तथा स्वस्थ सृजनात्मक शक्ति के दर्शन हुए।

छायावाद में प्राचीन अभिव्यक्ति के प्रकार को महत्त्व न देकर नवीन भाव, भाषा, अलंकार को महत्त्व दिया गया। पंत जी की कविता का एक उदाहरण देखिए—

"न जाने कौन अरे द्युतिमान
जान मुझको अबोध अज्ञान
फूंक देते छिद्रों में गान
अरे सुख दुःख के सहचर मौन
नहीं कह सकता तुम हो कौन।"

प्राचीन अलंकार विधान की उपेक्षा पंत जी की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतिबिम्बित हुई—

"तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी चाहिए, तुम्हें क्या अलंकार॥"

अथवा

"खुल गये छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश।
अब गीत मुक्त औ' युग-वाणी बहती अयास॥"

छायावाद में युगवाणी अनायास आ बही। अतः काव्य-क्षेत्र में युगान्तर आया। कल्पना और सौन्दर्य की अनुभूति नए ढंग से हुई। काव्य का अन्तरंग,

बहिरंग बदला। प्रतीक पद्धति द्वारा प्रकृति का मानवीकरण किया गया। निराला जी 'जुही की कली' नामक कविता में लिखते हैं—

"विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी, स्नेह स्वप्न मग्न
अमल कोमल तन, तरुन जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।"

छायावादी कवियों ने प्रकृति को नारी का स्वरूप प्रदान किया। चित्रमय विशेषणों के संयोग से काव्य में अनुभूति की गम्भीरता आई। उदाहरण के लिए हृदय की सुरक्षित साँस का अर्थ (स्नेह) ग्रहण किया गया।

इसी प्रकार—

'हे अनंत की गणना' से (तारा)

'विश्व वन की व्याली' से (चिन्ता)

'नभ की निस्सीम हिलोर' से (वायु) आदि अर्थ ग्रहण किये गये तथा इन प्रयोगों से अभिव्यक्ति में परिवर्तन उपस्थित किया गया।

छायावादी काव्य में रीतिकालीन शृंगार ने अशरीरी और जिज्ञासा प्रधान रूप ग्रहण किया। डा० नगेन्द्र के मतानुसार यह अतीन्द्रिय शृंगार है।

छायावादी कविता में कल्पना-लोक का चिन्तन तथा चर्चा का आधिक्य रहा। जीवन की वास्तविकताओं से विमुख होकर यह काव्य 'काव्य के लिए काव्य' रचना का पर्याय बन गया। यही कारण था कि छायावाद [illegible] की तरह खिला, यौवन को प्राप्त हुआ और अपनी सुगंधि की [illegible] शीघ्र ही काल का ग्रास बन गया। वास्तविक जीवन-दर्शन के [illegible] समस्याओं की विमुखता ने छायावाद की सत्ता को दुर्बल [illegible] अन्य छायावादी कवि प्रगतिवादी रूप में दिखाई दे रहे हैं, [illegible] ही छायावादी काव्यदीप को अपने काव्यांचल से ढककर [illegible] प्रकाश कर रही हैं।

छायावादी कवियों में प्रसाद, पंत, निराला, मह[illegible] डा० रामकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी,

बहुत प्रसिद्ध है। राष्ट्रीयता के निकट रहकर भी इन कवियों ने करुण, कोमल शृंगारी प्रवृत्तियों को जो कलात्मक रूप प्रदान किया, उससे इस प्रकार की कविता के दर्शन हुए—

'भर दो रोली से माँग प्रथम चुम्बन में।
बीती बातों में रात, हुआ फिर प्रात प्रथम चुम्बन में॥'
—नरेन्द्र शर्मा

त्रिलोचन पांडेय की सम्मति में यह हिन्दी की क्षयग्रस्त कविता का रूप है किन्तु कला की नवीन मान्यताओं के आधार पर छायावादी काव्य उच्चकोटि का संवेदना प्रधान काव्य ही सिद्ध हुआ।

आज की हिन्दी कविता छायावाद से बहुत आगे बढ़ चुकी है। किन्तु हिन्दी साहित्य में छायावादी साहित्य, सौन्दर्य प्रधान साहित्य की कोटि में बहुत समय तक अपना उच्च स्थान बनाये रहेगा।

प्रश्न ४८—प्रगतिवाद के सम्बन्ध में एक लेख लिखिए।

आधुनिक हिन्दी काव्य में जब समाज के प्रति उत्तरदायी भावना-तत्त्व का उदय हुआ तथा भौतिक वाद को आधार मानकर कविता लिखी जाने लगी, तभी से प्रगतिवाद का जन्म समझा जाना चाहिए। प्रगतिवाद काव्य को छायावादी काव्यधारा की प्रतिक्रिया कहा जा सकती है। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के उपरान्त इस प्रकार की विचारधारा को नवीन बल तथा प्रेरणा प्राप्त हुई। यूरोप के दो महान् विचारक—फ्रायड तथा मार्क्स की विचारधारा का प्रभाव भी विश्व के सभी देशों के साहित्य में परिलक्षित हुआ, उस प्रभाव में हिन्दी-कविता भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी।

दैनिक जीवन के विषमता-प्रधान यथार्थ स्वरूपों ने जब साहित्यिक रूप ग्रहण किया तब आलोचकों द्वारा उसे 'प्रगतिवाद' की संज्ञा दी गई। अतः हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद का जन्मकाल सन् १९३६-३७ से माना गया।

प्रगतिवाद के जन्मकाल का आरम्भ देश-प्रेम, राष्ट्रीयता की भावना, उद्बोधन आदि की कविताओं से हुआ। भारतीय आत्मा ने 'पुष्प की आकांक्षा' व्यक्त की' सुभद्राकुमारी चौहान ने 'झांसी की रानी' कविता लिखी। दिनकर

ने हिमालय को सम्बोधित करते हुए कहा—'नवयुग शंख ध्वनि जगा रही तू जाग-जाग मेरे विशाल।' नवीन ने कवि से उथल-पुथल मचाने का आग्रह किया और भगवतीचरण वर्मा ने 'चूँ चरर मरर, चूँ चरर मरर' के द्वारा भैंसा गाड़ी पर सवार कुंठित जीवन को साकार किया।

कुछ आलोचकों के अनुसार राजनीति का समाजवाद साहित्य-क्षेत्र में प्रगतिवाद के रूप में उपस्थित हुआ। छायावादी कल्पना, भावुकता, आदर्शवाद की प्रतिक्रिया में वर्ग वैषम्यपूर्ण जनवादी दृष्टिकोण तथा सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति के भाव काव्य की पृष्ठभूमि में चित्रित किये गये।

छायावादी युग में 'छाया', 'नक्षत्र' और 'बादलों' की विशेष चर्चा हुई, मानव की अत्यन्त सुकुमार, कोमल प्रवृत्तियों का चित्रण हुआ, अत्यधिक प्रेम, विरह, करुणा की प्रधानता रही, किन्तु समाज की वास्तविकता की ओर इस काव्य में ध्यान नहीं दिया गया। प्रगतिवादी काव्य ने इस दोष का परिहार किया और काव्य बादलों तथा इन्द्रधनुष के उड़नखटोले से उतर कर ठोस धरती पर पैदल चलने की अभिलाषा लेकर प्रकट हुआ। कवियों ने जीवन की वास्तविकता के दर्शन कराए। दिनकर ने कहा—

> "श्वानों को मिलता दूध दही, बच्चे भूखे तड़पाते हैं।
> मिल मालिक तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥"

पंत जी ने 'ग्राम्या' में वास्तविक मानवलोक पर दृष्टि डाली तो उन्हें दिखाई दिया—

> "यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित।
> यहाँ अकेला मानव ही रे विषण्ण, जीवन्मृत ..."

किन्तु दूसरी ओर वह मानव को "मानव तुम सबसे सुन्दरतम" कह उसमें प्राणदा शक्ति का संचार भी करते हैं।

अतः प्रगतिवादी काव्य में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं

(१) जीवन तथा जगत की समस्याओं ... जीवन-दर्शन की प्रधानता।

(२) साहित्य को सामाजिक चेतना प्रधान बनाया गया और व्यक्ति की चेतना को कम महत्त्व दिया गया।

(३) जन-कल्याण को साहित्य की भावभूमि में स्थान दिया गया।

(४) समाजवादी समाज व्यवस्था का पक्ष लिया गया।

(५) समाजवादी, पूँजीवादी, विचारधारा का विरोध।

(६) सर्वहारा वर्ग की समस्या को उभार कर श्रमिक चेतना को प्रबुद्ध करना।

(७) 'कला को कला के लिए न मानकर' जीवन के लिए स्वीकार करना।

(८) प्रगतिशील, वैज्ञानिक, मार्क्सवादी विचारधाराओं से प्रेरणा ग्रहण करना।

(९) फ्रायडवादी कल्पित विचारों से, असामाजिकता से जनता को परिचित कराना।

(१०) जनवादी शक्तियों के संगठन की प्रेरणा देना।

(११) जनसाधारण की विचारधारा को उन्हीं की भाषा में प्रकट करना।

(१२) साहित्य को प्रतिक्रियावादी तत्त्वों के विनाश का साधन बनाना, इत्यादि।

प्रगतिवाद के प्रारम्भिक उत्थान में 'नवीन' सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, दिनकर आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यद्यपि इन कवियों का दृष्टिकोण मूलतः गाँधीवादी था, किन्तु सामाजिक क्रान्ति की अस्पष्ट और उग्र अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में पाई गई। उत्तरोत्तर विकास में यह सभी उपयुक्त कवि प्रेम और सौन्दर्य के नवीन भाव प्रस्तुत करने में सफल हुए। भाषा और भावों में भी क्रान्ति उपस्थित हुई। काव्य को उपयोगिता की कसौटी पर कसा जाने लगा और मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर साहित्य-सर्जना होने लगी।

प्रगतिवाद का दर्शन—हीगेल के दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर मार्क्सवादी दर्शन बना और मार्क्सवादी दर्शन को प्रगतिवादी में अपनाया गया। मार्क्स ने जड़ जगत को ही मूल तत्त्व माना है। मार्क्स जड़ प्रकृति में ही क्षोभ की

कल्पना करता है। मार्क्सवाद दुनिया के समझने में समय व्यर्थ नहीं करता। यह तो दुनिया को बदल डालने की समस्या को महत्त्व देता है। पूंजीवाद को संसार के विराम में रोग मानता है। ईश्वर और धर्म की भावना को अफीम जैसा समझता है। वर्गहीन समाज की स्थापना इसका चरम उद्देश्य है।

प्रगतिशील साहित्य ने भी उपर्युक्त तत्वों को स्वीकार कर लिया किन्तु भारतीय समाज और व्यवस्था के अनुसार ही यथार्थवादी साहित्य का निर्माण किया गया।

"सभ्य शिष्ट औ संस्कृत लगते, मन धो केवल कुत्सित।
धर्म नीति औ सदाचार का मूल्यांकन है जनहित॥"

प्रगति में जीवन की कुरूपता पर भी प्रकाश डाला गया। एक भिखमंगे का चित्र देखिए—

"चिथड़ों में से दुर्गन्ध कढ़ी
रोगों से उनकी देह सड़ी।
उनके मुख से ही छूट रही
कलुषित वचनों की एक झड़ी।"

इस चित्रण से बौद्धिक मन को सोचने के लिए विवश किया गया। धर्म, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य की नवीन परिभाषायें की गईं जिनमें जनहित, वर्गविहीनता को आधार माना गया। व्यक्तिगत चेतना समष्टिगत चेतना के रूप में मुखरित हुई। निराला का भिखारी "दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता" दिखाई दिया। नवीन छन्द, नवीन उपमान, नवीन प्रतीकों को अपनाया गया। नवीन प्रतीकों में मशाल, प्रलय, ताण्डव, रक्त, जोंक इत्यादि दिखाई दिए, जिनका अर्थ क्रमशः क्रान्ति, नाश की कल्पना, क्रान्ति का विस्तार, बलिदान, महाजन लगाया गया।

प्रगतिवादी काव्य में कुछ दोष भी उभर कर आये जिनके कारण प्रगतिवादी काव्य की कड़ी आलोचना हुई। उदाहरण के लिए—

(१) प्रगतिवाद चैतन्य शून्य जड़तावाद है।
(२) प्रगतिवाद को सत्य, सौन्दर्य, आनन्द की अनुभूति पर विश्वास नहीं।

(३) प्रगतिवाद के वास्तविक चित्रण के माध्यम से कुरूपता का वर्णन ही अधिक हुआ।

(४) प्रगतिवाद में कामवासना प्रधान अश्लील चित्रण की प्रधानता रही।

(५) प्रगतिवाद ने शान्ति के लिए संघर्ष पर जोर दिया जिससे वर्ग-कटुता बढ़ी।

(६) प्रगतिवाद प्रचारात्मक अधिक रहा।

(७) प्रगतिवाद में कला का ह्रास हुआ।

(८) प्रगतिवाद ने मौखिक सहानुभूति से शोषित वर्ग को बहलाया। आदि

इस प्रकार प्रगतिवाद गुणदोष प्रधान वह साहित्यिक धारा है जो आज उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, नाटक तथा काव्य सभी क्षेत्रों में फैल चुकी है।

प्रगतिवादी उपन्यासकारों में राहुल, निराला, रांगेय राघव, यशपाल, कृष्णचन्द, अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि का नाम प्रसिद्ध है।

निबन्धकारों में रामविलास शर्मा, यशपाल, रांगेय राघव आदि ख्याति पा चुके हैं।

कवियों में नागार्जुन, रांगेय राघव, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर आदि का नाम प्रसिद्ध है।

आलोचकों में—रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द गुप्त, रांगेय राघव, चन्द्रबलीसिंह उल्लेखनीय हैं।

आज प्रगतिवादी साहित्यकारों के दो दल दिखाई दे रहे हैं। कुछ प्राचीन साहित्य को भी सुन्दर, समृद्ध तथा जन-जीवन के निकट मानते हैं। कुछ साहित्यकार प्राचीन साहित्य साधना को सामन्ती साहित्य कहकर नया क्रांतिकारी साहित्य रचना चाहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रगतिवादी विचारधारा युग की आवश्यक मांग है किन्तु सत्यं, शिवं, सुन्दरं के सिद्धान्त से संचालित होनी चाहिए।

प्रश्न ४८—प्रयोगवाद के सम्बन्ध में एक लेख लिखिए।

हिन्दी काव्याकाश में युद्धकाल में एक नवीन कविता स्रोत के दर्शन हुए। युद्ध के उपरान्त सन् १९४३ के आस-पास विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में जिस नवीन अनुकांत अभिव्यक्ति के प्रकार के दर्शन हुए, उसे कुछ आलोचकों ने 'प्रयोगवाद' की संज्ञा दी।

प्रयोगवाद का प्रमुख स्वर 'प्रतीक' के प्रकाशन के साथ ही सुनाई दिया। 'तार सप्तक' नामक काव्य संग्रह के प्रकाशित होने के उपरान्त प्रयोगवाद की आलोचनाएँ विभिन्न दृष्टिकोणों से की गईं। किन्तु स्वयं प्रयोगवादी कविता का पथ-प्रदर्शन करने वाले अज्ञेय जी ने प्रयोगवादी कवियों के सम्बन्ध में लिखा— "किसी एक स्कूल के नहीं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं, अभी राही हैं—राही नहीं, राहों के अन्वेषी।"

प्रयोगवादी कविताओं में जहाँ अशान्ति, बौद्धिक व्याकुलता, आर्थिक विपन्नता, पराजय आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है वहाँ काव्य, अभिव्यक्ति तथा काव्य सौन्दर्य के नवीन मानों की अवतारणा के भी दर्शन होते हैं।

कुछ आलोचकों ने इसे उपेक्षित किया, किन्तु वह इस नवीन आन्तरिक व्यंजना प्रधान कविता के मर्म तक नहीं पहुँच सके। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रयोगवादी कविता के नाम पर कुछ ऐसी रचनाएँ भी प्रकाशित की जाने लगीं जिनमें कला का अभाव दिखाई दिया।

प्रयोगवादी कविता के सम्बन्ध में 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय जी ने लिखा—प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, न हैं। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का कोई वाद नहीं है, कविता भी अपने आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें प्रयोग-वादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कवितावादी' कहना।"

प्रयोगवादी कवि प्रयोग को सत्य का साधन स्वीकार करते हैं। प्रयोगवादी कविता बौद्धिक है। उलझी हुई मानवी संवेदनायें हैं। अस्पष्ट भावाभिव्यक्ति है। कहीं संगीत लय से युक्त रोमानी शब्द-योजना का सौंदर्य भी मिलता है, किन्तु यह कहना सत्य से दूर पहुँच जाना होता है कि प्रयोगवादी कविता कविता

ही नहीं है अथवा इसे कला की कोटि से बहिष्कृत कर देना चाहिये। निम्न-लिखित उदाहरणों से प्रयोगवाद का रूप सौंदर्य—तथा अभिव्यक्ति कला को सहज ही समझा जा सकता है।

"इन फिरोजी होठों पर बरबाद
मेरी जिन्दगी !
गुलाबी पांखुरी पर एक हल्की सुरमई आभा,
कि ज्यों करवट बदल लेती कभी बरसात की दुपहर,
इन फिरोजी होठों पर!

(धर्मवीर भारती)

अथवा

"अपनी मिट्टी को छिपाय आसमानों में कहाँ।
इस गली में भी न जब अपना ठिकाना हो सका॥
जहाँ में अब तो जितने रोज अपना जीना होना है।
तुम्हारी चोटें होनी हैं, हमारा सीना होना है॥"

(शमशेर बहादुर सिंह)

अथवा

"जी, पहिले कुछ दिन शर्म लगी मुझको।
पर पीछे-पीछे अक्ल जगी मुझको॥
जी, लोगों ने तो बेच दिये ईमान।
जी, आप न हों सुनकर ज्यादा हैरान॥
मैं सोच समझ कर आखिर अपने गीत
बेचता हूँ।
जी हाँ, हुजूर मैं गीत बेचता हूँ॥"

(भवानीप्रसाद मिश्र)

उपर्युक्त कविताओं के अध्ययन से निम्नलिखित काव्य-विशेषताओं पर [illegible] रहता है—

(१) प्रयोगवादी कवि किसी एक ही दृष्टिकोण के नहीं हैं। वे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को काव्य का विषय बनाते हैं।

(२) प्रयोगवादी कवि कला को किसी बन्धन में नहीं मानते। उनमें आत्माभिव्यक्ति की निजी विलक्षणताएँ होती हैं। उनकी कमाई का अपना अलग-अलग स्वरूप होता है।

(३) प्रयोगवादी कवि उलझी हुई संवेदनाओं को प्रकट करते हैं। इन उलझी संवेदनाओं, आत्मकुंठाओं को व्यक्त करने के लिए वह अत्यन्त मौलिक उपमान तथा यौन प्रतीकों का प्रयोग करते हैं।

(४ जीवन के रहस्य कोषों में प्रविष्ट होकर उनका रहस्योद्घाटन करना प्रयोगवादी कवियों को प्रिय है। वे जीवन की अत्यंत स्वाभाविक स्थितियों, मनोदशाओं का चित्रण अपनी साहित्य कला के माध्यम से करने का अत्यन्त का विफल प्रयत्न करते हैं।

(५) प्रयोगवादी कवियों में प्रकृति, सौंदर्य, नारी के प्रति भी तीव्र आकर्षण मिलता है पर उन्हें सुन्दरी की भौंहें 'बिजली चीज़ सी' लगती हैं। होंठ 'कैरोजी' दिखाई देते हैं। नदभरी चाँदनी, गुलाबी दुनिया का उल्लेख भी रीतिकालीन शृंगारप्रियता का आधुनिक संस्करण बन प्रयोगवादी कविता में उपस्थित हुआ है।

(६) प्रयोगवादी कविता रूपविधान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। भावनाओं की तीव्र तथा पूर्ण व्यंजना के लिए भाषा की नवीन अभिव्यक्ति, छोटे-बड़े टाईप लम्बे-छोटे शब्दखंड, विराम चिह्न, टेढ़ी-तिरछी लकीरें तथा पूर्ण-अपूर्ण वाक्यों का प्रयोग मिलता है।

(७) विषय की दृष्टि से प्रयोगवादी कविता जूते, चावल तथा घुने से लेकर सतपुड़ा पर्वत तथा हिमालय की उत्तुंग चोटियों तक को अपना विषय बनाए हुए हैं। इसलिए—

प्रयोगवादी कवि के सम्बन्ध में अज्ञेय जी कहते हैं—

"आप साहसिकता कह लीजिये पर उसकी नीयत को बुरा कैसे कह सकते हैं ।"

नरेशकुमार मेहता प्रयोगों के सम्बन्ध में कहते हैं—'विगत अनुकरण नहीं हो सकता । हाँ भोला शंकर बनकर रह सकता है । नया तो मेरा युग है तथा सबसे नया मैं हूँ ।'

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कविता भी एक विद्रोह है, एक प्रतिक्रिया है, एक खोज है, एक अतृप्ति है, एक बौद्धिक चेतना की सजग कसमसाहट है । नवीन दृष्टिकोणों का तुमायशी प्रयत्न है, विचार और प्रयत्न का अवसरवादी समझौता है ।

निस्सन्देह प्रयोगवादी कविता हिन्दी काव्यधारा का नवीन प्रवाह है, कहीं गहरा, उथला, उज्ज्वल, गदीला तो कहीं तीव्र, चमकीला, कलाहीन, और कला-पूर्ण ।

आधुनिक प्रयोगवादी कविता के भविष्य के सम्बन्ध में आज कुछ इसलिए नहीं कहा जा सकता कि यह काव्य न अभी अपनी पूर्णता को प्राप्त हुआ है और न किसी निश्चित आदर्श की स्थापना करने में समर्थ हुआ है । प्रयोगवादी कविता सुन्दरी, कल्पनाओं के टेढ़े-मेढ़े शब्दजालों, अस्पष्ट रूपकों तथा उलझी हुई समवेदनाओं के भार से लदी जा रही है, अतः नहीं कहा जा सकता कि इस सजावट, बनावट का भावी रूप क्या होगा ।

अलंकारों की नवीन योजना, छन्दों का प्रवाहपूर्ण संयोजन तथा भाव-तरंग की प्रधानता ने इस नवीन काव्य प्रकाशन को प्रयोगवादी संज्ञा देकर काव्य के इस नवीन उद्भावना का ठीक ही नाम रक्खा है ।